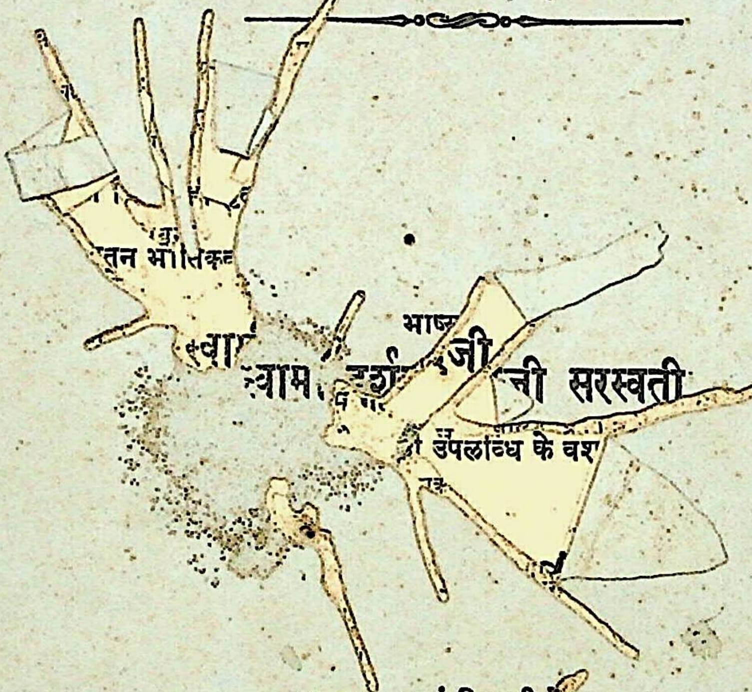
ओ३म्

कठोपनिषद् भाष्य



अनुवादक एवं टिप्पणी लेखक :

स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

आर्य समाज

१९, विधान सरणी,

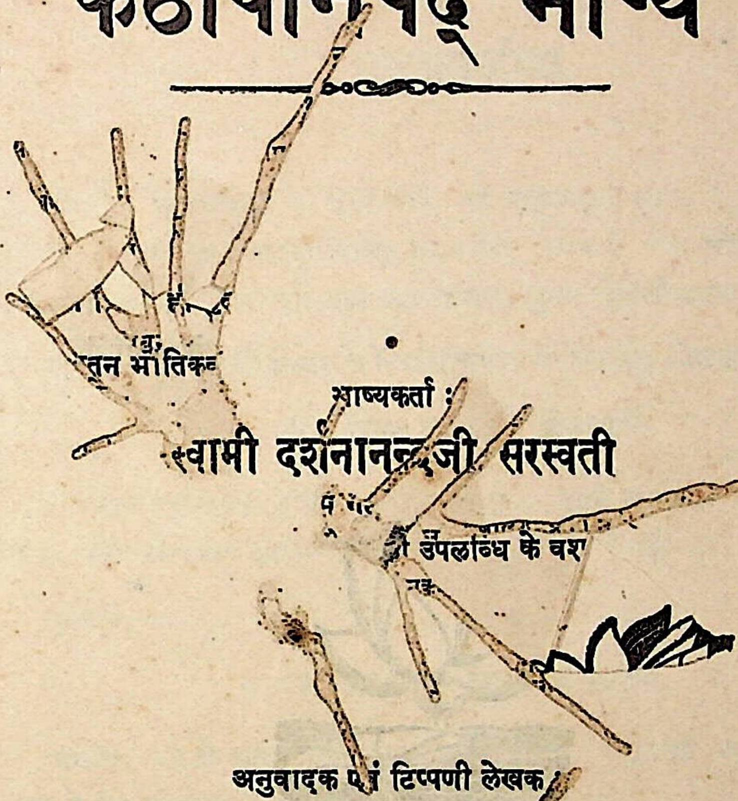
कलकत्ता-६

मूल्य १.५० रु०



ओ३म्

कठोपनिषद् भाष्य



भाष्यकर्ता :

स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती

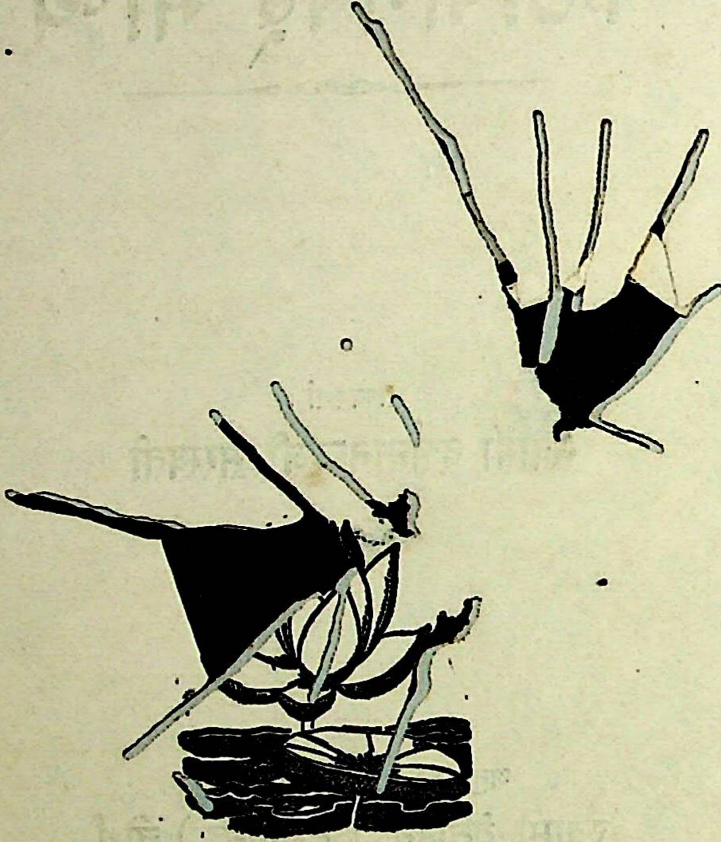
अनुवादक एवं टिप्पणी लेखक

स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

आर्य समाज
१९, विधान सरणी,
कलकत्ता-६

मूल्य १.५० रु०

प्रकाशक :
आर्य समाज
१६, विधान सरणी,
कलकत्ता-६



मुद्रक :
उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस
११-ए, सैयद साली लेन,
कलकत्ता-७

प्रकाशकीय

भारतीय विचारधारा में 'उपनिषदों' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषदों की विस्तृत परम्परा में 'कठोपनिषद्' का अपना विशिष्ट स्थान है। आचार्य यम और ब्रह्मचारी नचिकेता के कथनोपकथन में कितने ही हृदयस्पर्शी तत्त्व अत्यन्त सरल सुगम रीति से उद्‌घाटित हो गये हैं।

अद्यतन भौतिकवादी संसार के लिए नचिकेता की चेतावनी कितनी सार्थक है—

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"

अर्थात्—मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। उसके अन्तस्तल की अशान्ति-चञ्चलता को अपसारित कर तृप्तिदान करना रुपया-पैसा की उपलब्धि के वश में नहीं है।

पुनरपि—

"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"

अर्थात्—धन से अमृत प्राप्ति की आशा नहीं है। अमृत की आकांक्षा हो तो क्षणभङ्गुर वित्त के चक्र से मुक्त होना ही अपेक्षित है।

भौतिकवादी मनुष्य इस शरीर को ही सब कुछ मान लेते हैं। किन्तु कठोपनिषद् में अति सरल रीति से सत्य का प्रकाश कर दिया गया है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥"

अर्थात्—शरीर रथ का रथी आत्मा है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है।

जो सवार को भूलकर केवल रथ सजाने में जुटे हुए हैं, वे कितने भोले हैं।

सम्पूर्ण 'कठोपनिषद्' इस प्रकार की शिक्षाओं से भरी पड़ी है।

"कठोपनिषद्" का यह संस्करण प्रसिद्ध दार्शनिक एवं प्रबल तार्किक स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती के भाष्य के साथ प्रकाशित हो रहा है। साथ ही, स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती के भाष्य पर स्वामी वेदानन्दजी सरस्वती (दयानन्दजी तीर्थ) की टिप्पणी भी प्रस्तुत है। श्री स्वामी दर्शनानन्दजी ने यह भाष्य उर्दू में लिखा था। श्री स्वामी वेदानन्दजी ने उसका भाषान्तर हिन्दी में किया और साथ

ही, स्थल-स्थल पर कई महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ लिखीं। स्वामी वेदानन्दजी के अगाध विस्तृत शास्त्रज्ञान के आधार पर की गई टिप्पणियों से ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।

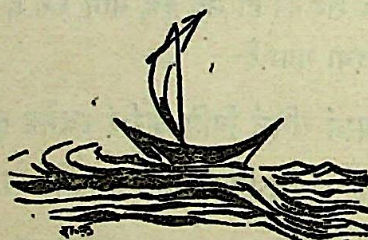
'कठोपनिषद्' का यह भाष्य बहुत दिनों से अप्राप्त था। आर्य समाज कलकत्ता ने ग्रन्थ की उपयोगिता पर विचार किया और इसे पुनः प्रकाशित करने का निश्चय किया।

'राजपाल एण्ड सन्स' दिल्ली ने इसके प्रकाशन का अधिकार 'आर्य समाज—कलकत्ता' को दिया; एतदर्थ आर्य समाज कलकत्ता की ओर से हम 'राजपाल एण्ड सन्स' का धन्यवाद करते हैं।

पुस्तक का मूल्य लागत से भी कम रखा गया है। आशा है, पुस्तक अधिक से अधिक व्यक्तियों के पास पहुँच सकेगी और आत्मसन्तोष प्राप्त हो सकेगा। आचार्य के शब्दों में—

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत—"

—प्रकाशक



ओ३म्

कठोपनिषद्भाष्य

प्रथमवल्ली

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

पदार्थ—(उशन्) मुक्ति का अभिलाषी (ह+व) पुराने समय में (वाजश्रवसः) वाजश्राव नामक विद्वान् के पुत्र ने (सर्ववेदसम्) सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्य्य (ददौ) दान कर दिया। (तस्य) उसका (नचिकेता+नाम) नचिकेता नामक (ह) प्रसिद्ध (पुत्रः) पुत्र (आस) था।

भावार्थ—वाजश्राव के पुत्र ने मुक्ति [illegible] कामना से अपना सारा धन, गौ आदि पशु जो कुछ था—इस विचार से कि जब तक सब वस्तुयें त्यागी न जायें मुक्ति नहीं होती, दान कर दिया। उसका एक नचिकेता नामक पुत्र था। इस पुरानी कथा को लोगों को मुक्ति के साधनों का उपदेश करने के लिये यहां कहते हैं ॥१॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

पदार्थ—(तम्) उस (ह) सचमुच (कुमारम् सन्तम्) कुमार होते हुए को (दक्षिणासु) दक्षिणा के निमित्त (नीयमानासु) ले जाई जाती हुई गौओं में (श्रद्धा) सत्य का विचार (आविवेश) घुसा, उत्पन्न हुआ, कि मेरा पिता ऐसा कार्य्य करने वाला है। (सः) उस नचिकेता ने (अमन्यत) अपने चित्त में विचारा।

भावार्थ—अप्रौढ़ बालक होते हुए भी नचिकेता के चित्त में धर्म के लिये श्रद्धा उत्पन्न हो गई कि मेरा पिता धर्म के बदले क्या अधर्म करने लगा है; क्योंकि यज्ञ की दक्षिणा के लिये जो गौएँ लाई गई थीं वे बूढ़ी थीं और बूढ़ी गौओं के दान देने से धर्म्म के स्थान में उलटा अधर्म्म होता है। दान इसलिये दिया जाता है कि लेनेवाले को लाभ हो [illegible] दान से लेने वाले को लाभ के स्थान में हानि पहुँचे और देने वाले को ज्ञात हो कि लेने वाले को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचेगा वरन् हानि होगी, तो वह दा[illegible]पापकारक है, जैसा कि आगे प्रकट होगा ॥२॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

पदार्थ—(पीतोदकाः) जो पानी पी चुकी हैं, वे [अर्थात् अब स्वयं जल नहीं पी सकतीं] (जग्धतृणाः) जो घास खा चुकी है, वे [अर्थात् वे स्वयं घास खाने में भी असमर्थ हैं] (दुग्धदोहाः) दोह लिया गया है दूध जिनका, ऐसी [अर्थात् अब वे दूध नहीं देती हैं] (निरिन्द्रियाः) इन्द्रिय रहित, सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ, अत्यन्त वृद्ध हों, अनन्दाः+नाम सुख और आनन्द से रहित, जिनमें किसी प्रकार की उन्नति की सम्भावना न हो (ते) वे (लोकाः) शरीर, जन्म, योनियां है (तान्) उनको (सः) वह मनुष्य (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है [अर्थात् उस मनुष्य को इस प्रकार के जन्म मिलते हैं, जिनमें सुख का नाम न हो] (ताः) ऐसी वृद्धा गौओं को (ददत्) देने वाला।

भावार्थ—जो गौएँ अब न तो स्वयं जल पी सकती हैं न ही चारा चर सकती हैं, और अत्यन्त वृद्ध होने के कारण दूध देने योग्य भी नहीं रहीं, उनको किसी पुरोहित या पण्डे को दान दे दिया जाता है। ऐसा दान देने वाले लोग उन योनियों को प्राप्त करते हैं, जिनमें आनन्द प्राप्ति तो दूर रही, आनन्द का नाम भी सुनने को नहीं मिलता।

प्रश्न—क्या दान करने से भी नरक मिलता है? हम तो गोदान का बड़ा माहात्म्य सुनते हैं?

उत्तर—यह दान है या कृतघ्नता? जब तक उससे लाभ मिला, स्वयं लिया। जब उससे लाभ की आशा न रही, तब उसे दूसरे के गले मढ़ दिया। यह बहुत बड़ा पाप है। कृतघ्नता से बड़ा पाप कोई नहीं है।

प्रश्न - कृतघ्नता को इतना पाप क्यों माना जाता है?

उत्तर—क्योंकि इस पाप से मूर्खों के चित्तों में भलाई= शुभ कर्म्मों के प्रति घृणा पैदा होती है। ये देखते हैं कि अमुक जन ने उपकार किया था, उसको ऐसा फल मिला। यदि हम उपकार करेंगे, तो हमारी भी ऐसी दशा होगी; अतः वे शुभ कर्म्मों से उदासीन हो जाते हैं। इससे संसार में भलाई को बहुत हानि पहुँचती है। संसार से नेकी का दूर करना महापाप है ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयꣳहोवाच, मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

पदार्थ—(सः) उस नचिकेता ने (ह) कहते हैं कि (उवाच) कहा (पितरम्) अपने पिता को, (तत्) हे पिता जी (कस्मै) किसके प्रति (माम्) मुझे (दास्यसि+इति) दोगे। (द्वितीयम्) दूसरी बार (तृतीयम्) तीसरी बार (ह) भी। (उवाच) उस बालक के पिता ने कहा (मृत्यवे) मृत्यु के प्रति (त्वा) तुझे (ददामि) देता हूँ (इति) इति।

भावार्थ—इस विचार से नचिकेता ने अपने पिता से दो-तीन बार कहा कि तुम मुझे किसके प्रति दोगे। उसके पिता ने कहा—तुझे मृत्यु के प्रति दूँगा। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। १. चूँकि तू ने धृष्टता की है, अतः तुझे जान से मार डालूँगा। २. या मृत्यु किसी ऋषि का नाम होगा, उसके प्रति दूँगा। यदि पहला अर्थ लिया जाये तो उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि नचिकेता ने कोई ऐसा अपराध नहीं किया था जिसका दण्ड मृत्यु हो। नचिकेता ने तो यह विचारा था कि पिता जिस भूल को करने लगा है, उसका फल पिताजी को दुःख होगा। अतः उसने कहा था कि मुझे किसके प्रति दोगे, पुत्र से अधिक मूल्यवान् और कोई पदार्थ नहीं हो सकता। पुत्र को दक्षिणा में देने से निकम्मी गौओं के दान देने का पाप न होगा, क्योंकि भला बुरा जो पास था, सब दे दिया। यदि अच्छा न दिया जाये और बुरा ही बुरा दिया जाये तो पाप लगेगा। जब नचिकेता शुद्ध भावना से कह रहा था, तो उसके बाप को बुरा किस तरह लग सकता था? जब कोई विशेष दोष न हो, तो साधारण मनुष्य भी ऐसे कठोर दण्ड का विधान नहीं करता, ऋषि ऐसा कैसे करता? अतः पहला अर्थसंगत नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'मृत्यु के प्रति देता हूँ' ऐसा किस प्रकार कहते? मृत्यु के बाद शरीर और आत्मा पृथक् हो जाते हैं। शरीर यहीं आग में जला दिया जाता है। यदि जायेगा, तो जीव जायेगा। जीव का नाम नचिकेता नहीं है और न जीव का देना उसके वश में है। अतः ऋषि के कहने से और अगले वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि ने ऐसे शब्द कहे कि जिससे नचिकेता को दण्ड भी मिले अर्थात् वह भयभीत भी हो जाये और ऋषि का वाक्य भी पूरा हो जाये ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

पदार्थ—(बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में से (एमि) आता हूँ (प्रथमः) प्रथम (बहूनाम्) बहुत से विद्यार्थियों में से (एमि) आता हूं (मध्यमः) मध्यम, अर्थात् अधम नहीं हूँ। (किं+स्वित्) कौन सा (यमस्य) मौतका (कर्त्तव्यम्)

कार्य्य है (यत्) जो (मया) मेरे द्वारा (अद्य) आज (करिष्यति) वह करेगा।

भावार्थ—पिता की इस बात को सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि पिता ने यह आदेश क्यों दिया ? मेरे साथ जो विद्यार्थी पढ़ते हैं उनमें मैं अनेकों में मैं प्रथम हूँ, अनेकों में मध्यम हूँ। अधम तो मैं किसी भी दशा में नहीं हूँ। फिर मृत्यु का कौन-सा ऐसा कार्य है जो मेरे द्वारा सिद्ध होगा ? जिसके लिये मुझे पिताजी ने यह आदेश किया है ? ऐसा कठोर दण्ड तो उसे दिया जाता है जो बहुत ही दुष्ट हो, ताकि अन्य लोग उसके दोषों से होनेवाली हानि से बच जायें। मैं ऐसा दुष्ट तो हूँ नहीं कि जिसकी मृत्यु से दूसरों का उपकार हो। फिर मृत्यु का ऐसा कौन-सा कार्य है जो आज मेरे मरने से सिद्ध होगा ? इससे वह सोच में पड़ गया और पिता को क्रोध में देखकर बोला ॥५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

पदार्थ—(अनुपश्य) मन में विचार कर देखो (यथा) जैसा चलते थे (पूर्वे) पूर्वज (प्रतिपश्य) विचार कर देखो (तथा) वैसे ही (परे) बाद में आने वाले [अर्थात् अतीत और वर्त्तमान के ज्ञानियों को देखो, वे जैसा कुछ कहते हैं, वैसा कर दिखाते हैं। आप अपनी इस प्रतिज्ञा को, कि मुझे मृत्यु के प्रति दोगे, पूर्ण करो।] (सस्यम्+इव) खेती की भाँति (मर्त्यः) मरणशील प्राणी (पच्यते) पकता है, अर्थात् मरनेवाला शरीर खेती की भाँति पक कर नष्ट हो जाता है (सस्यम्+इव) खेती की तरह ही (आजायते) आ जाता है, उत्पन्न होता है (पुनः) फिर, दूसरी बार।

भावार्थ—पिता को क्रोध की दशा में देखकर नचिकेता के मन में विचार आया कि पिता क्रोध के आवेश में आकर मुझे मृत्यु के प्रति देने की बात तो कह बैठे हैं, किन्तु अब उससे सकुचाते हैं। यह सोचकर नचिकेता ने अपने पिता से कहा—हे पिताजी ! आप अपने पिता पितामह आदि पूर्वजों की ओर देखिये। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को कभी नहीं तोड़ा। स्वधर्मस्थ वर्तमान विद्वानों का ध्यान कीजिये, वे भी प्रतिज्ञा भंग नहीं करते। वे जो कह देते हैं, उसे पूरा करते हैं। अतः आप किसी चिन्ता के बिना मुझे मृत्यु के प्रति दे दो। अपने वचन का पूरा न करना आपके लिये योग्य नहीं है। जिस प्रकार खेती जब पैदा होती है हरी-भरी दीखती है, समय पाकर वह सूख जाती है, नष्ट होकर पुनः उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार शरीर है। इसमें उत्पत्ति और नाश दोनों लगे रहते हैं। कोई उत्पन्न पदार्थ नाश से रहित नहीं है। अतः मेरी मौत की चिन्ता न करो। यह शरीर अनित्य है, सदा रहने वाला नहीं है। धनादि भी स्थायी नहीं, ये भी विनाशी हैं। एक दिन मृत्यु [illegible] आयेगी। अतः धर्मसंग्रह का यत्न करो। अपने वचन का पालन न करना उचित नहीं है, तुम मुझे मृत्यु के प्रति दे दो।

नचिकेता की इस दृढ़ता से पुराने काल के ब्रह्मचारियों की अवस्था का परिचय मिलता है ॥६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

पदार्थ—(वैश्वानरः) अग्नि की भाँति देदीप्यमान तेजस्वी ब्रह्मचारी (प्रविशति) प्रविष्ट हुआ है (अतिथिः) नेक सदाचारी महात्मा, जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो, ऐसा (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (गृहान्) घरों में, (तस्य) उसकी (एताम्) ऐसी (शान्तिम्) शान्ति, निश्चिन्तता (कुर्वन्ति) करते हैं। (हर) लेजाओ (वैवस्वत) हे विवस्वान् के पुत्र (उदकम्) जल आदि।

भावार्थ—नचिकेता के पूर्वोक्त शब्दों को सुनकर उसके पिता ने उसे मृत्यु नामक आचार्य्य के पास भेज दिया। ब्रह्मचर्य के ठीक विधि से पालन करने के कारण अग्नि समान तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मचारी नचिकेता जिस समय मृत्यु नामक आचार्य्य के घर में प्रविष्ट हुआ। [यमाचार्य्य (मृत्यु) के

घर में नचिकेता के पहुँचने की कोई तिथि नियत न थी अतः उसे अतिथि कहा गया है उस अतिथि को घर में घुसते देख आचार्य मृत्यु के परिवार परिजन के लोगों ने जल आदि के द्वारा नचिकेता की शान्ति करनी चाही, किन्तु नचिकेता, इस विचार से कि पिता ने मृत्यु के पास भेजा है और मृत्यु यहाँ पर नहीं है, मृत्यु से मिले बिना अन्य कार्य्य करने से पिता की आज्ञा पूरी नहीं होगी, तीन दिन रात जब तक कि आचार्य्य घर लौट कर नहीं आये, खानपान के बिना उनके घर पर रहा। सबके कहने पर भी पिताजी की आज्ञा के विरुद्ध करना उचित नहीं समझा।

प्रश्न—बहुत लोग यहां मृत्यु से अभिप्राय मौत ही लेते हैं।

उत्तर—यहां मृत्यु को वैवस्वत=विवस्वान् का पुत्र कहा है, अर्थात् उसके पिता का नाम विवस्वान् था, वह मौत का निशान क्योंकर हो सकता है? मृत्यु कोई द्रव्य नहीं है, वरन् शरीर और आत्मा के वियोग का नाम मृत्यु है। इस उपनिषत् में वर्णित इतिहास से स्पष्ट सिद्धि होता है कि मृत्यु नामक कोई आचार्य था। मौत का कौन सा घर है जहां नचिकेता गया? उसकी स्त्री आदि कौन थे? अतः मृत्यु से अभिप्राय मृत्यु नामक आचार्य से है ॥७॥।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्र-पशूꣳश्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

पदार्थ—(आशाप्रतीक्षे) जो वस्तु लाभदायक हो, उसकी कामना करने का नाम आशा है, जिस वस्तु का पूरा-पूरा तत्व ज्ञात न हो, उसकी प्राप्ति की कामना का नाम प्रतीक्षा है। इन दोनों को (सङ्गतम्) सत्संग से प्राप्त होने वाले फल को (सूनृताम्) दया से प्रीतिपूर्वक जो कहा जाये उसकी (इष्टापूर्ते) इष्ट=यज्ञादि कर्म्मों के फल को और आपूर्त= बावली कुंआँ, तालाब, अनाथ रक्षा, बाग लगवाना आदि धर्म्म कार्य्यों के फल को (पुत्रपशून्) पुत्रों, शिष्यों, गौ भैंस, बैल आदि पशुओं को (च) और (सर्वान्) सब को (एतत्) इस सबके फल को (वृङ्क्ते) नाश कर देता है, दूर भगाता है (पुरुषस्य) पुरुष का, मनुष्य का (अल्पमेधसः) अल्पबुद्धि वाले (यस्य) जिस (अनश्नन्) भोजन बिना (वसति) वास करता है (ब्राह्मणः) ब्रह्मनिष्ठ, वेदवेत्ता (गृहे) घर में।

भावार्थ—लाभप्रद पदार्थों की कामना से जो प्रार्थना की है, अज्ञात पदार्थों की जो प्रतीक्षा की है, सत्संग से जो शुभ कार्य्य किये हैं, सन्तान और पशु आदि जितने घर में हैं, यह सब पदार्थ उस पुरुष के नष्ट हो जाते हैं, जिस मन्दमति के घर पर आया हुआ वेदवेत्ता अतिथि भोजन पान के बिना वापस जाये, अर्थात् जिसके घर में खाये पिये बिना रात बिताये, उसे महापाप होता है। जिस प्रकार की अथिति सेवा का वेदादि सत्य शास्त्रों ने विधान किया है, यदि लोग उसके अनुसार व्यवहार करें, तो संसार से सब दोष दूर हो जायें, और कोई भी अज्ञान से लिप्त न रहे।

प्रश्न—ब्राह्मण के भूखा प्यासा रहने से इतनी हानि का कारण क्या है?

उत्तर—ब्राह्मणों का जीवन विद्याप्रचार और परोपकार के लिये है। जब तक विद्वानों और परोपकारियों का सत्कार होता रहता है, तब तक वे जीवनसामग्री के संग्रह करने से निश्चिन्त होकर परोपकार, उपदेश, विद्यादान के कार्य्य में लगे रहते हैं। ज्योंही उनके मान में न्यूनता हुई कि त्योंही उपदेश के कार्य्य में विघ्न पड़ा। उपदेश का कार्य्य बिगड़ने से सारे दोष फैलते हैं। संसार को सच्चरित्र बनाये रखने वाले ब्राह्मण होते हैं।

प्रश्न—आज कल तो ब्राह्मण कहलाने वाले अनेक कुकर्म करते हैं?

उत्तर—ब्राह्मण आदि गुण कर्म स्वभाव से होते हैं, जिनमें ब्राह्मणों के गुण कर्म्म स्वभाव नहीं, वे ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं।

प्रश्न - कई लोग ब्राह्मण की सन्तान को ब्राह्मण कहते हैं।

उत्तर—ब्रह्मचर्य्याश्रम के अन्दर यदि किसी ब्रह्मचारी को ब्राह्मण कहा जाय, तो वैसा माता पिता के कारण से समझना चाहिये। अन्य आश्रमों में तो गुण कर्म्म से ही होगा।

तिस्रो ह रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्तिमेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९॥

पदार्थ—(तिस्रः) तीन (रात्रीः) रात्रियां (यत्) जो (अवात्सीः) तूने वास किया है (गृहे) घर में (मे) मेरे (अनश्नन्) खाये पिये बिना (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मण! (अतिथि) पूजने योग्य, अनियत तिथि वाला (नमस्य) नमस्कार, सत्कार करने योग्य है (ते+नमः+अस्तु) तुझे नमस्कार हो (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मणगुणों से युक्त! (मे+स्वस्ति+अस्तु) मेरा कल्याण हो (तस्मात्+प्रति) उसके बदले (त्रीन्) तीन (वरान्) वरों को (वृणीष्व) वरण कर, मांग ले॥

भावार्थ—जब यमाचार्य्य ने घर पर एक ब्राह्मण को तीन दिन तक भूखा प्यासा रहने का वृत्तान्त सुना, तब उसने उससे कहा—हे ब्राह्मण! तू तीन दिन तक खाने पीने के बिना मेरे घर में रहा है, और अतिथि का भूखा रहना गृहस्थ के लिये पाप है। इस वास्ते हे पूजनीय! मैं आपका आदर करता हूँ, आपको नमस्ते करता हूँ। मुझे इस पाप से बचाने के लिये तीन वर मांगो जिससे मेरा कल्याण हो। अज्ञात पाप का प्रायश्चित होता है। मेरे अनुपस्थित रहने से तुम्हें कष्ट हुआ है, उसका जो मुझे पाप लगा, प्रायश्चित के बिना मेरा कल्याण नहीं होगा, अतः तुम मुझ से तीन वर मांगो, जिससे तुम्हारे चित्त को जो क्लेश हुआ है, वह नष्ट हो जाये, और मेरा पाप दूर हो। जब तक तुम प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा नहीं करते, तब तक गृहस्थधर्मानुसार मेरा कल्याण होना कठिन है। एक-एक रात के कष्ट के बदले एक-एक वर मांगो। मृत्यु के इस वचन को सुनकर नचिकेता उससे तीन वर मांगने पर उद्यत हुआ॥९॥

उसने पहला वर यह मांगा—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

पदार्थ—(शान्तसंकल्पः) जिसके मन की गति रुक गई है, जो मन की तरङ्गों से पृथक् हो गया हो ऐसा (सुमनाः) प्रसन्न मनवाला (यथा) जिस भांति (स्यात्) होवे (वीतमन्युः) हट गया जिसका क्रोध वह, क्रोधरहित (गौतमः) गौतम गोत्र में उत्पन्न मेरा पिता (मा+अभि) मुझको संबोधन कर (वदेत्) बोले (प्रतीतः) प्रसन्न होकर (एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन वरों में से (प्रथमं) पहला (वरम्) वर (वृणे) मांगता हूँ।

भावार्थ—नचिकेता ने यमाचार्य्य से कहा—हे गुरो! गौतमगोत्रोत्पन्न मेरा पिता मानस विकारों से रहित हो जायें, उनके भीतर जो चिन्तायें हैं, सब दूर हो जायें और बाहर से भी प्रसन्न प्रतीत हों। जब तुम्हारे भेजने से मैं जाऊँ, तो मुझसे कुशल-क्षेम के समाचार पूछें, क्रोध के कारण चुप न रहें। मुझको देखकर कि यह वही नचिकेता है, जिसे मृत्यु के पास भेजा था, सम्बोधन करके बुलाए। तीनों में यह सबसे पहला वर मुझे चाहिये।

नचिकेता के मन में आरम्भ से पिता की मङ्गलकामना थी, इस वास्ते वरों में भी पहला वर वही मांगा, जिससे उसका पिता क्रोध से बच जाये, जिस क्रोध के आवेश में आकर पिता ने पुत्र को मृत्यु के प्रति देने का प्रण किया था, साथ ही पिता की शान्ति भी चाही, जिस शान्ति की प्राप्ति के लिये पिता ने इतना पुरुषार्थ किया था कि सबकुछ दान दे डाला था और यह चाहा कि वह मुझसे रुष्ट न हो।

भारत के पुत्रों की पितृभक्ति अनुपम है। भारत में ऐसा अयोग्य पुत्र विरला ही मिलेगा, जो पिता को दुःख

देना चाहता हो या जिसके चित्त में उसको सुख देने का विचार न हो ॥१०॥

नचिकेता के इस वर मांगने पर मृत्यु आचार्य्य कहते हैं—

यथापुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखंᳪरात्रीः शयितावीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥

पदार्थ—(यथा पुरस्तात्) पहले की भांति (भविता) हो जायेगा (प्रतीतः) प्रसन्न [यह जानकर कि यह वही नचिकेता है] (औद्दालकिः) उद्दालक की सन्तान (आरुणिः) अरुण—पुत्र, तेरा पिता (मत्प्रसृष्टः) मुझसे सूचना पाकर (सुखम्) सुखपूर्वक, इच्छानुसार (रात्रीः) रात्री को (शयिता) सोएगा (वीतमन्युः) क्रोधरहित होकर (त्वाम्) तुझ अपने पुत्र को (ददृशिवान्) देखता हुआ (मृत्यु मुखात्) मृत्यु के मुख से (प्रमुक्तम्) छूटा हुआ।

भावार्थ—नचिकेता को मृत्यु आचार्य ने वर दिया कि जिस भाँति तेरा पिता पहले प्रसन्न था, वैसे ही अब भी तुझको पहचान कर कि यह वही नचिकेता है, प्रसन्न होगा और रात को पहले की तरह सुख से सोएगा। उसका सब क्रोध दूर हो जायगा और यह देखकर कि तू मृत्यु के मुख से छूटकर फिर आ गया है, उसका सब दुःख नष्ट हो जायेगा। जितनी बातें नचिकेता ने माँगी थी, उतनी यमाचार्य्य ने स्वीकार कर पूरी कर दीं ॥११॥

नचिकेता ने दूसरा वर यह मांगा—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ॥१२॥

पदार्थ—(स्वर्गे) सबसे उत्तम सुख जहां मिले उसे स्वर्ग कहते हैं, उस स्वर्ग (लोके) यज्ञादि कर्म्मों के फल से देखने योग्य जन्म या स्थान में (न) नहीं (भयम्) भय (किंचन) किसी प्रकार का (अस्ति) है (न) न (तत्र) वहाँ (त्वम्) तू=मौत (न) नहीं (जरया) बुढ़ापे के कारण (बिभेति) जीव डरता है। (उभे) दोनों (तीर्त्वा) तर कर (अशनायापिपासे) भूख प्यास को (शोकातिगः) शोकरहित होकर (मोदते) आनन्द भोगता है (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में।

भावार्थ—स्वर्गलोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, क्योंकि न तो वहाँ मृत्यु है और न बुढ़ापा। जहाँ सुख तो है, किन्तु दुःख का कोई सामान नहीं। भय का प्रधान कारण मृत्यु है, यदि मृत्यु न हो तो भय किस बात का? बुढ़ापे को देखकर भी भय होने लगता है; जहाँ दुर्बलता का चिह्न नहीं, बुढ़ापे का निशान नहीं, वहाँ डर काहे का? बुढ़ापा देखकर विचार होता है, मैं भी बूढ़ा होकर मृत्यु का ग्रास बनूँगा, जहाँ मृत्यु का निशान ही न हो, वहाँ यह विचार भी क्योंकर हो सकता है? भूख-प्यास से दुःख होता है, दुःख से भय होता है, किन्तु स्वर्ग में न भूख है न प्यास; न शीत है, न उष्ण; न शोक है, न चिन्ता; न मान है, न अपमान; सारांश यह कि वहाँ किसी प्रकार के दुःख का सामान नहीं है कि जिससे भय हो। इस कारण शोक, मोह, चिन्ता से रहित, आनन्द, प्रसन्नता में विभोर लोग स्वर्ग में रहते हैं। विद्वानों से सुना है कि स्वर्ग का सुख मुक्ति से न्यून है। अतः आप बताइये कि स्वर्ग और मुक्ति का तत्त्व क्या है? यदि स्वर्ग में कोई दुःख नहीं, प्रत्येक प्रकार का सुख विद्यमान है, तो मुक्ति में स्वर्ग से क्या विशेषता है? क्या विलक्षणता है, जिससे शास्त्रकार मुक्ति को सब सुखों से श्रेष्ठ बतलाते हैं। आप इस रहस्य को जानते हैं, इस वास्ते जो तत्व हो, मुझे बतलाइये ॥१२॥

स त्वमग्निᳪस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तᳪश्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

पदार्थ—(सः) वह (त्वम्) तू (अग्निम्) अग्नि को (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग प्राप्त कराने वाले (अध्येषि) जानता है

(मृत्यो) हे मृत्यो ! (प्रब्रूहि) भलीभांति बतला (तम्) उस अग्नि को (श्रद्दधानाय) श्रद्धा करने वाले (मह्यम्) मेरे प्रति। (स्वर्गलोकाः) जिन यज्ञ करने वालों को स्वर्गलोक प्राप्त हुआ है वे या स्वर्ग में रहने वाले (अमृतत्वम्) मृत्यु से रहित अवस्था, [जो लोग शरीर के अभिमान से रहित हैं, मानो वे कभी मरते नहीं, क्योंकि मृत्यु शरीर और आत्मा का वियोग हैं, उन्होंने ज्ञानद्वारा शरीर और जीव को पहले ही भिन्न-भिन्न जाना हुआ है] (भजन्ते) सेवन करते हैं (एतत्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर के द्वारा (वृणे) मांगता हूं।

भावार्थ—नचिकेता ने फिर कहा—हे आचार्य्य ! जिन अग्निहोत्रादि यज्ञों से स्वर्ग मिलता है, उन्हें आप जानते हैं [यज्ञों में प्रधान अग्नि है, इस वास्ते यहाँ अग्नि-होत्रादि न कह कर 'अग्नि' के जानने की इच्छा की है] मैं श्रद्धापूर्वक आप से पूछता हूँ, कृपा करके आप मुझ श्रद्धालु को वह बतलाइये। कर्म्मफल के बल से जो स्वर्ग लोक में जाते हैं, उनको बहुत काल तक सुखमय जीवन मिलता है, वे सब प्रकार का आनन्द भोगते हैं। [यहां स्वर्गीय जीवन को अमृत कहा है, थोड़े जीवन की अपेक्षा दीर्घ जीवन को अमृत कहा है, थोड़े जीवन की अपेक्षा दीर्घ जीवन को अमृत कहते हैं। जैसे चिरस्थायी पदार्थ को लक्षणा से नित्य कह देते हैं यद्यपि कोई दृश्यमान पदार्थ नित्य नहीं है।] इस दूसरे वर के द्वारा मैं स्वर्गकारक अग्निहोत्रादि के प्रधान साधन अग्नि को जानना चाहता हूँ।

पहले वर से नचिकेता ने पिता के सुख की कामना की जो धर्म्म का सबसे मुख्य अङ्ग है, देव कार्य्यों में माता, पिता तथा आचार्य को देव माना गया है। दूसरे वर में स्वर्ग के साधन अग्निहोत्रादि के जानने की इच्छा की। इस क्रमपूर्वक प्रश्न करने से नचिकेता की बुद्धि का पता लगता है कि वह कितना उत्तम ब्रह्मचारी था। ज्ञान का प्रमाण क्रम को ठीक बनाये रखना है। यह सुन कर मनुष्य तो क्या पशु भी कार्य्य कर लेते हैं ॥१३॥

प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

पदार्थ—(प्र) अच्छी तरह (ते) तुझे (ब्रवीमि) बताता हूँ (तत्) उस (उ) ठीक ठीक (मे) मेरे वचन को (निबोध) समझ। (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग का साधन (अग्निम्) अग्नि को (नचिकेतः) हे नचिकेतः (प्रजानन्) अच्छी तरह समझता हुआ। (अनन्त लोकाप्तिम्) दीर्घ जीवन प्राप्त करने का साधन। [यहां अनन्त शब्द 'बहुत बड़े' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है . (अथो) और (प्रतिष्ठाम्) समस्त संसार की स्थिति का साधन अग्नि [सूर्य्य के कारण पृथिवी, तारों, नक्षत्रादिकों की स्थिति है, जठराग्नि के कारण शरीर की स्थिति है] (विद्धि) जान (त्वम्) तू (एतत्) इसको (निहितम्) पड़ा हुआ (गुहायाम्) बुद्धिरूपी गुफा में।

भावार्थ - यमाचार्य्य कहते हैं—हे नचिकेतः ! स्वर्ग के साधन अग्नि के संबंध में जो कुछ मैं जानता हूँ तुझे बताता हूँ। यह अग्नि अनन्त अर्थात् चिरस्थायी जीवन का हेतु है। जीवन प्राणों का नाम है ; प्राण अग्नि के सहारे काम करते हैं। समस्त संसार की स्थिति का साधन भी यह अग्नि है। इस सौर ब्रह्माण्ड के समस्त लोग जिस केन्द्र के चारों ओर घूम रहे हैं, वह सूर्य्य है। सूर्य्य न हो, तो यह समस्त सौर मण्डल नष्टभ्रष्ट हो जाय। और सूर्य्य अग्नि का एक अति महान् पिण्ड है। नचिकेतः ! तू मेरे इस कथन को स्थिर मति और सावधान मन से सुन। सूक्ष्म और कठिन विषय को चञ्चल चित्त ग्रहण नहीं कर सका करता।

प्रश्न—आचार्य्य ने जो यह कहा, कि मैं उस स्वर्ग्य अग्नि को जानता हूँ, तुझे बताता हूँ, तू उसको सुन, बुद्धि को स्थिर करके समझ। इस से प्रतीत होता है कि आचार्य्य को अभिमान था, अन्यथा वह ऐसा न कहता।

उत्तर—आचार्य्य को अभिमान नहीं था, वरन् इस विद्या में शिष्य की श्रद्धा स्थिर करने के लिये उसने ऐसा कहा ॥१४॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

पदार्थ—(लोकादिम्) लोक=प्रकाश का प्रथम कारण भूत (अग्निम्) अग्नि को (तम्) उस (उवाच) युक्तियों और दृष्टान्तों से समझाया (तस्मै) उस नचिकेता के प्रति (या) जो (इष्टकाः) ईंटें, [जिनको चिनकर अग्निहोत्रादि के लिये वेदी या कुण्ड बनाया जाता है] (यावतीः) जितनी (वा) या (यथा) जिस प्रकार की (वा) अथवा। (सः) उस नचिकेता ने (च) और (अपि) भी (प्रत्यवदत्) दोहरा दिया। (यथोक्तम्) कहे अनुसार [अर्थात् जिस प्रकार आचार्य्य-मृत्यु ने बतलाया, जो शब्द जिस औसर और प्रकरण में कहे, वैसा सुना दिया] (अथ) इसके बाद (अस्य) इस नचिकेता को (मृत्युः) यमाचार्य्य ने (पुनः) फिर (आह) कहा (तुष्टः) प्रसन्न होकर।

भावार्थ—लोक का कारण अग्नि है। लोक=प्रकाश समस्त वस्तुओं के रूप दिखाता है। प्रकाश=अग्नि के बिना कोई पदार्थ लोक नहीं हो सकता। पृथिवी लोक है, कब से ? जब से तेज द्वारा रूप इसमें प्रविष्ट हुआ। यदि पृथिवी में अग्नि न हो, तो पृथिवी कभी दिखाई ही न दे। सूर्य्य, चन्द्र, तारे आदि जितने पदार्थ संसार में दिखाई देते हैं, उन सब में अग्नि है। अतः लोक का कारण अग्नि है। यमाचार्य्य ने अग्नि के भेद और कार्य्य सब बतला दिये। और जितनी ईंटों का जितना बड़ा जिस यज्ञ के लिये कुण्ड बनना चाहिये, और यज्ञ की विधि—यह सब भी समझा दिया। इस बात के सिद्ध करने के लिये कि नचिकेता इस विद्या को ग्रहण करने के योग्य है, और कि जो कुछ यमाचार्य्य ने कहा है, उसे उसने ठीक-ठीक समझ लिया है, नचिकेता ने आचार्य्य के कथन को शब्दशः दोहरा दिया। इससे यमाचार्य्य को नचिकेता के पूर्ण अधिकारी होने का दृढ़ विश्वास हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर फिर कहना आरम्भ किया।

पाठक वृन्द ! इस लेख से ज्ञात होता है ब्रह्मविद्या के अधिकारी ऐसे मनुष्य होने चाहियें, जिनकी बुद्धि इतनी स्वच्छ हो कि उन को कैसा ही कठिन विषय बताया जाये, वे एक ही बार सुनने से उसे ग्रहण कर सकें। नचिकेता ने इस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर यमाचार्य्य को सन्तुष्ट कर लिया। नचिकेता की बुद्धिमत्ता, धैर्य्य, दृढ़ता तथा बुद्धि की सूक्ष्मता बता रही है कि गुण, कर्म्म, स्वभाव से ब्राह्मण कैसा होना चाहिये ॥१५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

पदार्थ—(तम्) उस नाचिकेता को (अब्रवीत्) बोला (प्रीयमाणः) उसकी बुद्धि और योग्यता से प्रसन्न होता हुआ (महात्मा) जिसका आत्मा अतीव उच्च विचारों वाला है ऐसा यमाचार्य्य। (वरम्) वर (तव) तुझे (इह) इसमें (अद्य) आज (ददामि) देता हूँ (भूयः) और भी, (तव) तेरे (एव) ही (नाम्ना) नाम से (भविता) होगा, प्रसिद्ध होगा (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, अग्नि-विद्या (सृङ्काम्) माला को [जो मान का निशान है। जिसका सभा में मान करते हैं, उसके गले में माला डाल देते हैं] (च) और (इमाम्) इस (अनेकरूपाम्) अनेक रूपों वाली [अनेक रंगों के कारण जो सुन्दर प्रतीत हो रही है] (गृहाण) ले।

भावार्थ—नचिकेता की बुद्धि को देखकर यमाचार्य्य बहुत प्रसन्न हुए। वे महात्मा प्रेम से नचिकेता को कहने लगे—नचिकेता ! आज मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ और तुझे और भी वर देता हूँ, यह अग्निविद्या तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। अर्थात् आज से लोग इस विद्या को नाचिकेत अग्नि-विद्या नाम से पुकारेंगे। सफलता का चिह्न यह माला, जिसमें अनेक रंगों के मनके हैं, जो तुझे सुख देगी, ग्रहण कर।

प्रश्न—महात्मा किसको कहते हैं ? जीवात्मा परिच्छिन्न

है, परिच्छिन्न के लिये महान् शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता।

उत्तर—निस्सन्देह जीवात्मा परिच्छिन्न है। किन्तु महात्मा शब्द का प्रयोग बुद्धि के व्यवहार पर निर्भर करता है। जिसकी बुद्धि प्राकृतिक वस्तुओं के साथ संबन्ध रखती है, उसका ज्ञान, अपना तथा पराया दो प्रकार का होने से, परिमित होता है। जिस की बुद्धि परमात्मा की ओर लग जाती है उसका आत्मा समस्त संसार में परमात्मा के गुणों को देखने से सबको समदृष्टि से देखता है, उसका विचार महान् हो जाता है, अतः वह महात्मा है।

प्रश्न—जिनके विचार में अपना पराया हो, क्या वे महात्मा नहीं कहला सकते?

उत्तर गुण कर्म से तो नहीं कहला सकते। लेकिन किसी का नाम महात्मा हो सकता है, जैसे दरिद्र का नाम कहीं कहीं धनपति सुनने में आता है ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्म्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

पदार्थ—(त्रिणाचिकेतः) नाचिकेत अग्नि का [जिसका अभी अभी यम ने नचिकेता को उपदेश किया है] को तीन वार अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, और वानप्रस्थाश्रम में जिसने अनुष्ठान किया हो वह (त्रिभिः) माता पिता और आचार्य्य* इस तीन के साथ (एत्य) प्राप्त होकर (सन्धिम्) सत्संग को, मेल को, (त्रिकर्म्मकृत्) तीन कर्म्म करने वाला अर्थात् धर्म्म के तीन स्कन्धों—यज्ञ, अध्ययन और दान को पालन करने वाला (तरति) तर जाता है (जन्म मृत्यू) जन्म मरण को (ब्रह्मयज्ञम्) वेदों को उत्पन्न करने वाले (देवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा को (ईड्यम्) पूजने योग्य, स्तुति करने योग्य (विदित्वा) जानकर (निचाय्य) शास्त्र द्वारा निश्चय करके (इमाम्) इस (शान्तिम्) सर्व दुखों से शून्य अवस्था को (अत्यन्तम्) अवश्य, बहुत ही (एति) प्राप्त होता है।

* यथा मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो ब्रूयात् (शतपथ ब्रा०) उत्तम माता, पिता और आचार्य्य से शिक्षा प्राप्त करके ही मनुष्य कुछ कह सकता है।

भावार्थ—यम द्वारा नचिकेता को कही विधि के अनुसार, जिस मनुष्य ने तीन आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ—में अग्निहोत्र किया है, जिसने माता पिता तथा आचार्य्य इन तीन शिक्षकों से शिक्षा ग्रहण की है, जिसने ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम में धर्म्म के तीन स्कन्धों—यज्ञ, अध्ययन और दान—को विधिवत् पालन किया हो, वह तर जाता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जिसने परमात्मा को जो वेदों का रचयिता है, सबका प्रकाशक है, सबका स्तोतव्य है; जान लिया, वह इस शास्त्र के अनुसार आचरण करने से बहुत बड़ी शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—नचिकेता को बतलाई तीन प्रकार की अग्नि कौन सी है?

उत्तर—ब्रह्मचर्य्याश्रम में आहवनीय, गृहस्थाश्रम में गार्हपत्य, और वानप्रस्थाश्रम में दक्षिणाग्नि नामक तीन प्रकार की अग्नि होती है। प्रत्येक आश्रम में इसके अनुसार यज्ञ करना चाहिये* ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

पदार्थ—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता को बतलाई विधि से तीन आश्रमों में तीन वार जिसने अग्नि की स्थापना की, माता, पिता और आचार्य्य—इन तीन से जिसने शिक्षा प्राप्त की और तीन कर्म्म जिसने किये हों, ऐसा (त्रयम्) तीन को (एतत्) उपर्युक्त (विदित्वा) जानकर (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जाननेवाला (चिनुते) चयन करता है,

* इन तीन अग्नियों का स्वरूप आगे समझायेंगे।

स्थापन करता है (नाचिकेतम्) नचिकेता के नाम पर प्रसिद्ध अग्नि को (सः) वह (मृत्युपाशान्) मौत के फंदों को (पुरतः) आत्मा और शरीर के वियोग से पूर्व (प्रणोद्य) हटाकर (शोकातिगः) शोक से छूट कर (मोदते) आनन्द भोगता है (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में, दुःख से रहित जन्म या स्थान में।

भावार्थ—जिसने तीन आश्रमों में अग्निहोत्र किया है, जिसने यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन कर्म्म किये हैं, जिसने माता, पिता तथा आचार्य्य से सुशिक्षा प्राप्त करके परमात्मा को जान लिया है और जो विद्वान् इस प्रकार तीन आश्रमों में अग्निहोत्रादि यज्ञों के लिये तीन अग्नियों को स्थापित करता है, वह अपने जीवनकाल में ही मृत्यु के बन्धनों से छूटकर, सब प्रकार के क्लेशों से रहित होकर स्वर्गलोक में सुख से जीवन व्यतीत करता है ॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्योयमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

पदार्थ—(एषः) यह जिसकी ऊपर चर्चा हुई है (ते) तेरा पूछा (अग्निः) अग्नि (नचिकेतः) हे नचिकेता (स्वर्ग्यः) स्वर्गसाधन (यम्) जिसको (अवृणीथाः) तूने मांगा था (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर के द्वारा। (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (तव) तेरा (एव) ही (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे (जनासः) लोग [विद्वान् लोग किसी वस्तु का जो नाम धर दें, साधारण जन उसी नाम से उस वस्तु को पुकारने लगते हैं] (तृतीयम्) तीसरा (वरम्) वर (नचिकेतः) हे नचिकेतः! (वृणीष्व) मांग।

भावार्थ—यमाचार्य्य ने कहा हे नचिकेतः! यह अग्निविद्या है जिसके विषय में स्वर्गसाधन समझकर तू ने दूसरे वर के द्वारा पूछा था। यह अग्नि अब तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। जिसका जो नाम आरम्भ में रख दिया जाये, वही नाम उसका संसार में प्रसिद्ध हो जाता है। अब यह अग्नि नाचिकेताग्नि कहलायेगी। अब तीसरा वर मांग!

कई लोगों को यह शंका हो सकती है कि यमाचार्य के कहने मात्र से वह विद्या नाचिकेतविद्या के नाम से कैसे प्रसिद्ध हो सकती है? इसका समाधान यह है, कि आचार्य्य जब किसी वस्तु का कोई नाम रख देते हैं तो लोग उसे उसी नाम से व्यवहार करने लग जाते हैं ॥१९॥

अब नचिकेता यमाचार्य्य से तीसरा वर मांगता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

पदार्थ—(य) जो (इयम्) यह (प्रेते) मरे हुए (विचिकित्सा) शङ्का (मनुष्ये) मनुष्य के संबन्ध में, (अस्ति) मृत्यु के पीछे भी रहता है (इति) ऐसा (एके) कई लोग कहते हैं (न) नहीं (अयम्) यह आत्मा (अस्ति) मृत्यु के पीछे रहता है (इति) ऐसा (च) और (एके) कई विद्वान् कहते। (एतत्) इस रहस्य को (विद्याम्) जानूं, मैं जानना चाहता हूँ (अनुशिष्टः) सिखाया जाकर (त्वया) तुझ से (अहम्) मैं। (वराणाम्) वरों में से (एषः) यह वर (तृतीयः) तीसरा है।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—हे गुरु महाराज! मृत्यु के पीछे जीवात्मा के सम्बन्ध में शङ्का है। कई लोग कहते हैं, मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा रहता है, अर्थात् जीव शरीर से पृथक् कोई पदार्थ है। दूसरे पक्ष वाले कहते हैं, कि मृत्यु के पीछे जीवात्मा नहीं रहता अर्थात् शरीर से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं है। यह तत्त्व कि शरीर से भिन्न जीवात्मा है या नहीं आप मुझे सिखलाइये, आपकी शिक्षा से मैं निश्चित रूप से मैं जान सकूं। तीन वरों में मेरा यह तीसरा वर है।

नचिकेता का यह प्रश्न कई प्रश्नों का समुदाय है—पुनर्जन्म है या नहीं? जीवात्मा शरीर से भिन्न है जो मौत के बाद भी रहता है या शरीर का ही गुण है अर्थात् मृत्यु

के साथ जीव का भी नाश हो जाता है ? शरीर और आत्मा का वियोग करने वाला परमात्मा है या नहीं ॥२०॥

ब्रह्मविद्या सम्बन्धी इस प्रश्न के सम्बन्ध में यमाचार्य कहते हैं—

देवैरत्रापि विचिकित्सितंपुरा नहि सुविज्ञेय-मणुरेष धर्म्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥

पदार्थ -(देवैः) बड़ी-बड़ी विद्याओं के प्रकाशक विद्वानों ने (अत्र) इस आत्मज्ञान=ब्रह्म विद्या के विषय में (अपि) भी (विचिकित्सितम्) सन्देह किया है [आत्मा है या नहीं है ? यदि है तो दीखता क्यों नहीं है ? यदि नहीं है तो वेदों शास्त्रों में क्यों इसका प्रतिपादन है ? इस प्रकार के अनेक संशय किये हैं] (पुरा) पुराने समय में (न) नहीं (हि) सचमुच (सुविज्ञेयम्) सरलता से जानने योग्य, (अणुः) अत्यन्त सूक्ष्म, जिसको सूक्ष्म बुद्धि से नहीं जान सकते] (एषः) यह (धर्म्मः) धर्म्म (अन्यम्) दूसरा (वरम्) वर (नचिकेतः) हे नचिकेतः ! (वृणीष्व) तू मांग । (मा) मुझ को (मा) मत (उपरोत्सीः) दबा [जैसे उत्तमर्ण अधमर्ण को दबाता है] (अति) बहुत (मा) मुझ पर (सृज) छोड़ दे (एनम्) इस वर को ।

भावार्थ—आत्मविद्या सम्बन्धी नचिकेता का प्रश्न सुन कर अधिकारि-परीक्षा के लिये यमाचार्य्य ने कहा – हे नचिकेतः ! पुराने समय में इस आत्म-विद्या के सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वानों ने अनेक शंकायें की हैं। कोई कहता है आत्मा तथा परमात्मा हैं। दूसरा कहता है—इनके होने का क्या प्रमाण हैं ? क्योंकि जो पदार्थ होता है, उसकी सत्ता के लिये भी कोई प्रमाण होता है। आत्मा की सत्ता में प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है और प्रत्यक्ष के बिना अनुमान आदि हो नहीं सकते। एक ओर जगत्कर्त्ता होने से परमात्मा की सत्ता का अनुमान किया जाता है। दूसरी ओर योगियों का मानस प्रत्यक्ष भी माना जाता है। सारांश यह कि इसके विषय में बहुत वादविवाद, तर्कवितर्क हुआ है। आत्म विद्या बहुत सूक्ष्म विषय है, यह आसानी से नहीं जाना जा सकता और न ही हर एक इसे जान सकता है, इसलिये, हे नचिकेतः ! इस वर को छोड़कर दूसरा वर मांग ले। मुझ को बहुत न दबा ॥२१॥

इस पर नचिकेता कहता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

पदार्थ—(देवैः) पण्डितों और ज्ञानियों ने (अत्र) इस ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में (अपि) भी (विचिकित्सितम्) विचार किया है, अर्थात् इस विषय को स्पष्ट करने का बहुत यत्न किया है (किल) सचमुच । (त्वम्) तू (च) भी (यत्) जिसको (न) नहीं (सुविज्ञेयम्) सरलता से जानने योग्य (आत्थ) कहता है। (वक्ता) बतलाने वाला (च) भी (अस्य) इसका (त्वादृग्) तेरे जैसा (अन्यः) दूसरा (न) नहीं (लभ्यः) मिल सकता (न) नहीं (अन्यः) दूसरा (वरः) वर (तुल्यः) बराबर, समान (एतस्य) इसके (कश्चित्) कोई ।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—हे गुरुदेव ! आप यह आदेश करते हैं कि इस विषय पर विद्वानों ने बहुत ऊहापोह किया है, और आपने भी विचार किया है। इससे प्रतीत होता है, कि यह अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि विद्वान् जन किसी व्यर्थ विषय पर माथापच्ची नहीं करते। उन्हें ज्ञात होता है कि कौन-सा विषय विचारने योग्य है और कौन-सा नहीं। जिस-जिस विषय की उन्होंने विवेचना की है वह विषय प्रत्येक के जानने योग्य भी नहीं ; यह आवश्यक नहीं कि हर एक मनुष्य की बुद्धि उसको ग्रहण कर सके। जब आप यह सब बातें कह रहे हैं, तो मुझे निश्चय होता है, कि इसका समझाने वाला आपसे अधिक योग्य मिलना कठिन है।

जब आपसे अधिक इस ब्रह्मविद्या का जानने वाला मिल नहीं सकता और यह भी ज्ञात हो चुका है कि यह विद्या सबसे श्रेष्ठ है, तब इसके समान दूसरा कोई वर नहीं हो सकता। भला, इन बातों को जान कर इसके बदले दूसरा वर मैं किस तरह मांगूँ? या तो आप मुझे यह समझायें कि ब्रह्मविद्या कोई अच्छी विद्या नहीं है, ताकि मैं इसे जानने का यत्न छोड़ दूं; या मुझे यह विश्वास हो जाये कि आप यह विद्या मुझे दे नहीं सकते। किन्तु इन दोनों बातों पर मेरा विश्वास होना असम्भव है। संसार में, साधारण लोग पदार्थों के तीन भेद करते हैं—एक वे पदार्थ जो प्राप्त करने योग्य हैं, जिनकी प्राप्ति की इच्छा होती है, जो किसी न्यूनता या त्रुटि को दूर करने के लिये आवश्यक माने जाते हैं।* दूसरे वे पदार्थ, जो नाश करने योग्य होते हैं, जो त्रुटि या दोष उत्पन्न करते हैं, जिनसे द्वेष होता है + तीसरे वे पदार्थ जो हेय और उपादेय दोनों से भिन्न हैं, न जिनके प्राप्त करने की आवश्यकता है और न नाश करने की। जिनकी हमें कोई परवा नहीं होती, जिनसे हम उदासीन रहते हैं।×

प्रश्न—जिनसे दोष दूर होते हैं,या त्रुटि की पूर्ति होती है, ऐसे पदार्थ कौन से हैं?

उत्तर - जीवात्मा में अल्पज्ञता और आनन्द का अभाव है। सच्चिदानन्द परमात्मा की उपासना से यह त्रुटि और न्यूनता दूर हो जाती हैं। परमात्मा की उपासना के बिना न तो यथार्थ ज्ञान हो सकता है और न आनन्द ही प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—परमात्मा जब प्रत्येक जीव के अन्दर हर समय विद्यमान है तो उसकी उपासना हर समय हो रही है, फिर उसकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—देश काल की दृष्टि से परमात्मा की उसासना अभिमत नहीं है। वरन् ज्ञान की दृष्टि से। जो जीव परमात्मा को आनन्द और ज्ञान का भण्डार समझ कर उसका भरोसा करता है, वह ईश्वर का उपासक है। जो प्रकृति पर निर्भर करता है, वह प्रकृति का उपासक है।

प्रश्न—न्यूनता और दोष बढ़ाने वाले पदार्थ कौन से हैं, जिनसे द्वेष होता है?

उत्तर—प्राकृतिक पदार्थ ज्ञान की न्यूनता अर्थात् अल्पज्ञता-दोष को बढ़ाने वाले और आनन्दाभाव को उत्पन्न करने वाले हैं। यदि मनुष्य प्रकृति का उपासक न हो तो उसके अन्दर शान्ति बनी रहती है, आनन्द भले ही न हो। प्रकृति की उपासना से अल्पज्ञता, अविद्या=मिथ्याज्ञान=उलटा ज्ञान होता है, और आनन्द नहीं मिलता, वरन् अशान्ति बढ़ जाती है। अतः प्रकृति की उपासना हेय है, इसको दूर करना अनिवार्य है।

प्रश्न - इस समय तो समस्त संसार यह कह रहा है, कि भौतिक विज्ञान Material science के द्वारा धन-सम्पत्ति प्राप्त किये बिना सुख नहीं हो सकता। आप उसके विरुद्ध कह रहे हैं?

उत्तर—यदि इस समय की प्रकृत्युपासक जातियाँ शान्त और सुखी हैं, तो आप का कहना यथार्थ है। किन्तु यदि प्रकृति-पूजक जातियाँ दुःख से अनुविद्ध हैं, तो आपके कथन के सर्वथा अशुद्ध होने में क्या सन्देह है? जहाँ तक पश्चिमी देशों के, जहाँ विज्ञान का दौर-दौरा है, समाचार ज्ञात हैं, उनसे तो यही प्रतीत होता है कि वे अत्यन्त अशान्त हैं। कोई राजा भी दो-चार मील अकेला नहीं घूम सकता। जहाँ के राजा अकेले न घूम सकें, उन्हें हर समय शत्रुओं का भय लगा रहता हो, वहाँ शान्ति के होने की बात कहनी सर्वथा अविद्या की बात है।

प्रश्न—अशान्ति तो भारतवर्ष में भी है?

उत्तर—भारतवर्ष में अशान्ति प्रकृति-उपासना की शिक्षा का परिणाम है। जब तक वैदिक शिक्षा की प्रधानता रही, तब तक यहाँ अशान्ति का नाम भी न था। जब से पश्चिमी शिक्षा का यहाँ प्रचार हुआ है, तब से यहाँ भी

---

* इन्हें 'उपादेय' कहते हैं।
+ इन्हें 'हेय' कहा जाता है।
× इनकी संज्ञा 'उपेक्ष्य' है।

अशान्ति आ गई है। अशान्ति के जितने साधन हैं, वे सब प्रकृत्युपासकों की संगति और शिक्षा से आये हैं।

प्रश्न—जो न हेय हैं और न उपादेय, ऐसे औदासीन्य वृत्ति पैदा करने वाले 'उपेक्ष्य' पदार्थ कौन से हैं?

उत्तर—जीवात्मा के लिये दूसरे जीव न उपादेय हैं न हेय हैं। उन से उदासीन ही अच्छा है।

प्रश्न यदि पशु आदि प्राणी (जीव) न हों तो मनुष्यों का जीवित रहना ही कठिन हो जाये, आप उन्हें हेय, उपादेय दोनों से भिन्न बतला रहे हैं।

उत्तर—पशु आदि प्राणियों की आवश्यकता शरीर की सहायता के लिये है न कि आत्मा की सहायता के लिये। ब्रह्मविद्या में जीव के विषय में विचार होता है ॥२२॥

नचिकेता की और अधिक परीक्षा करने के भाव से यमाचार्य्य कहते हैं—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

पदार्थ—(शतायुषः) सौ वर्ष आयु वाले (पुत्रपौत्रान्) बेटों पोतों को (वृणीष्व) मांग ले (बहून्) बहुत से (पशून्) पशुओं को (हस्ति हिरण्यम्) हाथियों और सोना को (अश्वान्) घोड़ों को (भूमेः) भूमि का (महदायतनम्) बहुत बड़ा भाग या ठिकाना (वृणीष्व) वर ले (स्वयं) स्वयं (च) भी (जीव) जी (शरदः) वर्ष (यावत्) जितने (इच्छसि) तू चाहता है।

भावार्थ—यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि ब्रह्मविद्या के स्थान में तू यह मांग ले कि मेरे बेटे-पोते सौ वर्ष की आयुवाले हों, और कि मेरे घर में गौ, बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि पशु बहुतायत से हों, जिनके सब अलङ्कार सोने के हों। जितनी भूमि तू चाहे मांग ले; बड़े-बड़े महल, दुर्ग, अट्टालिकायें और हर्म्य जितने चाहे मांग ले। अपने लिये सुखपूर्वक इच्छानुकूल दीर्घ जीवन भी मांगले। यमाचार्य्य के कथन से ऐसा भासता है कि वे नचिकेता को उन कामनाओं और प्रलोभनों का ज्ञान करा रहे हैं, जो ब्रह्मविद्या के मार्ग में प्रतिबन्धक हैं; क्योंकि परीक्षा के समय प्रायः ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं जो परीक्षार्थी की सफलता में बाधक समझे जाते हैं। आत्मा के लिये जिन सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता होती है, परमात्मा बिन मांगे भोगानुसार स्वयं दे देता है। उनकी कामना करना अध्यात्म मार्ग में बड़ी रुकावट है। जिस तरह जिस मन में शीत की कामना है, उसी समय उसमें गरमी की इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि यह दोनों इच्छायें परस्पर विरोधी हैं। इसी प्रकार जिस चित्त में सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना है, उसमें परमात्म-प्राप्ति की उस समय भावना नहीं हो सकती, जिस चित्त में परमात्म-प्राप्ति की कामना है, उस समय उसमें सांसारिक धन की कामना नहीं हो सकती; क्योंकि परस्पर विरोधी भावों का एक समय में एक पदार्थ में होना असम्भव है। यह तो सम्भव है कि धनिक भी हो और उसमें परमात्मा की प्राप्ति की कामना भी हो, किन्तु यह सर्वथा सम्भव नहीं है कि धन की कामना भी हो और परमात्मा की प्राप्ति की कामना भी हो। धनिकपन के साथ तो परमात्म-प्राप्ति की कामना का विरोध नहीं है। धन प्राप्ति की कामना और परमात्म-प्राप्ति की कामना अवश्य परस्पर विरुद्ध हैं। परमात्म प्राप्ति की कामनावाले को भी पूर्व कर्मों के अनुसार धन-सम्पत्ति मिलती है। धनकी कामना वाले को भी भोग से अधिक धन-सम्पत्ति नहीं मिलती है। ईश्वर प्राप्ति की कामना वाले को न धन-सम्पत्ति की प्राप्ति पर हर्ष होता है और न उसके विनाश पर शोक होता है। यही ईश्वर प्राप्ति के अभिलाषियों की पहचान है। राजा जनक और रामचन्द्र धनसम्पन्न राजा थे, किन्तु उनके चित्त में धन की चाह न थी। अतः रामचन्द्रजी को जब यह कहा गया कि कल तुम्हें राज्य मिलेगा, तब वे प्रसन्न न हुए और जब यह कहा गया कि चौदह वर्ष के लिये वन को जाओ, तब वे अप्रसन्न न हुए; क्योंकि वे इस तत्त्व को जानते थे

कि जो भोग में है अवश्य होकर रहेगा, फिर हर्ष और शोक किस बात का। राजा जनक के विश्य में प्रसिद्ध है यदि उनके शरीर पर इनर (वास) लगा दिया तो भी उन्हें कोई हर्ष न होता था, और न ही शरीर के जलने पर अप्रसन्नता होती थी।

प्रश्न—क्या कारण है कि शरीर जलने पर भी जनक को कष्ट नहीं होता था? हम तो यह असम्भव समझते हैं।

उत्तर—मूर्खों के विचार से यह असम्भव है, क्योंकि वे आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध से अपरिचित हैं। और कई तो यहां तक अज्ञान में फँसे हैं कि कर्म्मों में शरीर को आत्मा का सहकारी मानते हैं और फल भोगते समय इस शरीर का आत्मा के साथ होना आवश्यक समझते हैं और इसके सहारे पुनर्जन्म का अपलाप करते हैं, किन्तु जो लोग जानते हैं कि शरीर आत्मा के लिये किराये की गाड़ी है, जिसकी उसी समय तक आवश्यकता रहती है जब तक लक्ष्य स्थान पर पहुँच न जायें। या जो यह समझते हैं कि शरीर एक कारागार है जो कर्म्मों के फल में मिला है। ऐसे लोग शरीर की बहुत परवाह नहीं करते, क्योंकि लक्ष्य पर पहुँचने पर किराये की गाड़ी छोड़नी पड़ती है या समय समाप्त होने पर जेलघर से निकलना ही पड़ता है। आत्मिक लक्ष्य तो यही है कि हम भौतिक बन्धनों से पृथक् होकर और शरीर के अहंकार का संहार करके परमात्मा की उपासना में लग जायें। परमात्मा के ज्ञान ध्यान में लग जाने की अवस्था में फिर शरीर की आवश्यकता ही क्या है कि उसके विनाश से भय हो ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

पदार्थ—(एतत्तुल्यम्) इसके बराबर (यदि) यदि (मन्यसे) तू मानता है (वरम्) वर को, तो (वृणीष्व) माँग ले (वित्तम्) धन को, सुखसंभोग-साधन को (चिरजीविकाम्) चिर जीवन को (च) और (महाभूमौ) भूमि के बहुत बड़े भाग पर (नचिकेतः) हे नचिकेतः! (त्वम्) तू (एधि) शासक हो। (कामनाम्) कामनाओं का (त्वा) तुझे (कामभाजम्) इच्छापूर्वक प्राप्त करने वाला (करोमि) करता हूँ। अर्थात् प्रत्येक सांसारिक सुख तुझे देता हूँ।

भावार्थ—यमाचार्य्य ने कहा, हे नचिकेतः! इसके समान, सांसारिक सुख के साधन जो तू चाहे मांग ले। जितना धन तुझे चाहिये मैं दे सकता हूँ। तू नियत आय• मासिक या वार्षिक-जितनी तुझे चाहिये मांगले। यदि तू पृथिवी का महाराज्य चाहता है, तो वह भी तुझे मिल सकता है। हे नचिकेतः! जो-जो तेरी इच्छा हो, तू बतला दे, मैं तेरी ये समस्त इच्छायें पूरी कर दूंगा। ब्रह्म विद्या के विचार को छोड़ कर सांसारिक सुख मांग ले। तेरी कोई ऐसी इच्छा न होगी जो पूरी न की जायेगी ॥२४॥

इतने प्रलोभन एक युवक को लक्ष्य से पतित करने के लिये पर्य्याप्त हैं, किन्तु यमाचार्य्य नचिकेता को और भी प्रलोभन देता है—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

पदार्थ - (ये+ये) जो-जो (कामाः) इच्छायें (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं (मर्त्यलोके) मनुष्य लोक में (सर्वान्) उन सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) अपनी इच्छानुसार (प्रार्थयस्व) मांग ले। (इमाः) ये (रामाः) रमण करने योग्य स्त्रियां (सरथाः) रथों समेत (सतूर्य्याः) गाने-बजाने के सामान के साथ। (नहि) सचमुच नहीं (ईदृशाः) ऐसी (लम्भनीयाः) प्राप्त हो सकतीं (मनुष्यैः) मनुष्यों को। (आभिः) इन (मत्प्रताभिः) मेरी दी हुओं से (परिचारयस्व) सेवा करा, सुख भोग। (मरणम्+अनु) मृत्यु के बाद का ज्ञान (म) मत (प्राक्षीः) पूछ।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं—हे नचिकेतः! इस भूमण्डल पर जो पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ हैं जिनके लिये मनुष्य लालायित रहते हैं, उन सब वस्तुओं को इच्छा पूर्वक मांग ले। यह मत विचारना कि मेरे पास कुछ नहीं है। ये स्त्रियाँ जो बहुत ही सुन्दर हैं और रथों पर सवार हैं जिनके साथ बाजे-गाजे और गाने का दूसरा सामान भी है, जिनकी तुल्यता की मनुष्यों को स्त्रियाँ किसी भांति नहीं मिल सकतीं, समस्त मनुष्य जिनकी कामना करते हैं किन्तु उन्हें वे प्राप्त नहीं होतीं, तू इन मेरी दी हुई पतिव्रता और सुन्दर स्त्रियों के साथ सांसारिक सुखों को भोग, किन्तु मृत्यु के बाद आत्मा की अवस्था के संबंध में मत प्रश्न कर ॥२५॥

नचिकेता, जिसको ब्रह्मचर्य्य के संस्कारों ने बलवान् बना दिया था, जिसके चित्त में इस प्रकार की कामनाओं का उत्पन्न होना लगभग असंभव था, जो सांसारिक सुखों की तात्विकता को भली-भांति जानता था, जिसे ज्ञात था, कि यही मोक्षमार्ग में प्रतिबन्धक हैं, उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्तिः तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

पदार्थ—(श्वोभावाः) आज हैं और कल नहीं ऐसे उत्पत्ति विनाश वाले अनित्य (मर्त्यस्य) मरणधर्मा मनुष्य के (यत्) जो (अन्तक) हे यमाचार्य! (एतत्) ये सब विषय (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के (जरयन्ति) नाश कर देते हैं (तेजः) तेज को (अपि) और (सर्वम्) सब, अनन्त (जीवितम्) जीवन (अल्प) थोड़ा (एव) ही है। (तव) तेरे (एव) ही रहें (वाहाः) रथादि यान और स्त्रियां (तव) तेरे ही (नृत्यगीते) नाच गान।

भावार्थ—यमाचार्य्य की बात सुनकर नचिकेता ने कहा कि—महाराज! संसार के जितने विषय हैं, वे सब अनित्य हैं, स्थिर नहीं हैं और मरणधर्मा मनुष्य की सब इन्द्रियों के तेज को परमात्मा के विधानानुसार, यह नष्ट करते रहते हैं। इससे सब इन्द्रियां क्षीण और दुर्बल हो जाती हैं। यदि आप कहें कि संपूर्ण जीवन तक यह सुख संविधा भोगने को मिलती रहेगी, तो यह सारा जीवन भी तो अत्यन्त थोड़ा है। यदि इस जीवन को बढ़ा भी लिया जाये और बढ़ाया भी इतना जाये कि जब तक सृष्टि है तब तक यह जीवन बना रहे तो भी यह बहुत थोड़ा है क्योंकि मुक्तिकाल के बहत्तर हज़ारवां भाग से भी यह कम है*। अतः रथों पर आरूढ़ स्त्रियाँ आपकी ही रहें मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है। न ही गाने बजाने में मेरी रुचि है, उसे भी आप अपने पास रखें। मुझे तो ब्रह्मविद्या और मृत्यु के बाद आत्मा की अवस्था के ज्ञान के अतिरिक्त और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है ॥ २६ ॥

नचिकेता पुनः कहता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्त-मद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

पदार्थ—(न) नहीं (वित्तेन) धन से (तर्पणीयः) तृप्त हो सकता (मनुष्यः) मनुष्य। (लप्स्यामहे) प्राप्त कर-लेंगे (वित्तम्) धन को (अद्राक्ष्म) दर्शन कर लिया (चेत्) यदि (त्वा) तेरा, अर्थात् मृत्यु का ज्ञान यदि प्राप्त कर लिया। (जीविष्यामः) हम जियेंगे तब तक (यावत्) जब तक (त्वम्+ईशिष्यसि) तेरी इच्छा होगी अर्थात् जितना जीवन भोगानुसार है उतना जियेंगे हो। (वरः) वर (तु) तो (वरणीयः) मांगना है (सः) वह (एव) ही।

---

* चार अरब बीस करोड़ वर्ष सृष्टि का काल है, उतना काल प्रलय का है। यह एक दिन रात है। इस दिन रात से छत्तीस हजार गुणा काल मुक्ति का है, उसे एक कल्प भी कहते हैं।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा, महाराज ! कोई मनुष्य चाहे कितना ही धन क्यों न प्राप्त कर ले, उससे वह कभी तृप्त नहीं हो सकता, अर्थात् धनैषणा कभी समाप्त नहीं होती। जैसे भोजन से पेट भर जाता है, फिर भोजन की इच्छा, उस समय, नहीं रहती, किन्तु धन प्राप्ति की दशा में ऐसा नहीं होता। वरन् जितना धन मिलता जाये, उतना ही कामना और बढ़ती जाती है। सौ वाला हजार में सुख समझ कर सहस्र की कामना करता है। सहस्र वाला लाख की कामना करता है, लाख वाला करोड़ की, इस प्रकार आगे और कामना बढ़ती ही जाती है। धन, क्योंकि मनुष्य की अनिवार्य्य आवश्यकता में से नहीं है, वरन् इसकी वासना हुआ करती है, अतः इसकी समाप्ति नहीं हो सकती। यदि मनुष्य धन प्राप्त भी कर लेता है, तो भी उसकी रक्षादि की चिन्ता के कारण उसे यथेष्ठ सुख नहीं मिलता है। जितना धन भोग में है, वह मिल ही जायेगा। कर्म्मानुसार परमात्मा ने जितना जीवन निश्चित किया है, वह भी मिल जायेगा, तब तक मैं अवश्य जीवित रहूँगा। मुझे उससे अधिक जीवन की आकांक्षा नहीं है। अतः न तो आप मुझे धन दीजिये, क्योंकि इससे धनैषणा बढ़कर व्याकुलता और दुःख होता है, सुख इससे नहीं हो सकता ; न ही चिर-जीवन दीजिये, जितना जीवन परमात्मा ने मेरे भोग के लिये नियत किया है, उतना पर्य्याप्त है। आप तो केवल मुझे वही वर अर्थात् मरने के बाद आत्मा की दशा और जीव और ब्रह्म को बोध कराने वाली ब्रह्म-विद्या दीजिये ॥२७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानति दीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

पदार्थ - (अजीर्यताम्) जिन में जीर्णता न हो, ऐसे (अमृताम्) मृत्यु और नाश से रहित, जिन में वृद्धि ह्रास न हो, ऐसों की अवस्था को (उपेत्य) प्राप्त करके (जीर्यन्) जीर्ण होने वाला वृद्ध (मर्त्यः) मरणधर्म्मा मनुष्य (क्वधः स्थः) कुत्सित अधोगति को प्राप्त हुआ (प्रजानन्) सत्यासत्य का विवेक करने वाला (अभिध्यायन्) चिन्तन करता हुआ (वर्णरतिप्रमोदान्) सौन्दर्य्य और स्त्री-प्रेम से उत्पन्न होने वाले सुखों को (अतिदीर्घे) बहुत लम्बे (जीविते) जीवन पर (कः) कौन (रमेत्) चित्त लगाये।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—महाराज ! दुरवस्थाग्रस्त मनुष्य का वृद्धि ह्रास से रहित अविनाशी, विकृत न होने वाले पदार्थों को प्राप्त करना, इस विनश्वर संसार में तुच्छ है, क्योंकि वह मोक्षसुख की अपेक्षा अत्यन्त हीन हैं। विवेकशील मनुष्य, जिसने सांसारिक सुखों को विचार द्वारा दुःखरूप समझा है, जिसे यह ज्ञात है कि इनसे हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ भी नहीं है, इन में कैसे फँस सकता है। विषयवान् जीवन में थोड़ा-सा समय भी रहना बुद्धिमान् को रुचिकर नहीं है, तो केवल विषय-भोग के लिये अत्यन्त दीर्घ-जीवन चाहना किस बुद्धिमान् को पसन्द आ सकता है ?

प्रश्न—क्या विषय दुःखरूप है ? संसार के समस्त लोग तो इन में सुख मानते हैं।

उत्तर—जो लोग सुख-दुःख के रहस्य से, सत्त्व से अनभिज्ञ हैं, वे विषयों में सुख मानते हैं। जो लोग इन के तत्त्व को जानते हैं, वे इन में सुख मानने के स्थान में इन्हें सर्वथा दुःखरूप मानते हैं, क्योंकि ये परमानन्द की प्राप्ति में बहुत बड़ा विघ्न हैं।

प्रश्न -- तुलसीदास जी जैसे भक्त ने भी कहा है कि इस संसार में कोई ऐसा मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे कामिनी और कनक की कामना न हो।

उत्तर—तुलसीदास जी ने यह नहीं कहा, कि ये सुख रूप हैं, वरन् वे यह समझाना चाहते हैं कि ये दो पदार्थ इतने प्रबल हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी इनसे धोखा खा बैठते हैं। अतः नचिकेता की परीक्षा के लिये यमाचार्य्य ने संसार के सब पदार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत किये। नचिकेता बुद्धिमान् था, वह इन वस्तुओं के प्रलोभन में न फँसा और अपने लक्ष्य से न गिरा ॥२८॥

नचिकेता फिर कहता है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यन्तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

पदार्थ—(यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान के विषय में (इदम्) यह पूर्वोक्त (विचिकित्सन्ति) संशय करते हैं [कि वह है या नहीं, है तो कहां है और कैसे है ?] (मृत्यो) हे यमाचार्य ! (यत्) जो (साम्पराये) मोक्षदशा सम्बन्धी [अर्थात् मोक्षावस्था में जीव के साथ क्या क्या रहता है] (महति) बड़ी में (ब्रूहि) बतला (नः) हमें, मुझे (तत्) वह (यः) जो (अयम्) यह (गूढम्+अनुप्रविष्टः) गहराई में छिपा है (न) नहीं (अन्यम्) दूसरे को (तस्मात्) उससे भिन्न (नचिकेताः) नचिकेता (वृणीते) मांगता।

भावार्थ—नचिकेता ने कहा—हे यमाचार्य ! 'परमात्मा है या नहीं ? है तो कहां है ? किस प्रमाण से जाना जाता है ? नहीं तो क्यों सारा संसार उसे मानता है ? यदि है तो कैसा है ? संयोगजन्य है या अजन्य ? परिछिन्न है या अपरिछिन्न है ? इच्छापूर्वक कर्त्ता है अथवा स्वभाव से कर्त्ता है ?' इत्यादि सन्देह जिस विद्या से नष्ट होते हैं उसका ज्ञान मुझे कराइये। इसके अतिरिक्त मुक्ति के सम्बन्ध में भी महान् सन्देह है। कोई कहता है मुक्ति होती है। कोई कहता है नहीं होती है। कोई कहता है मुक्ति नित्य है। कोई कहता है मुक्ति अनित्य है। कोई कहता है मुक्ति में सूक्ष्म शरीर रहता है, कोई कहता है नहीं रहता है। आप इन सबके समाधान मुझे दीजिये। यह वर बहुत गूढ़ है, बुद्धि बहुत कठिनता से इसमें प्रवेश पा सकती है। आप ध्यान से ऐसा प्रबन्ध कीजिये कि मुझे कोई सन्देह रह न जाये। नचिकेता इससे अन्य कोई वर नहीं मांगता। यद्यपि यह प्रश्न अन्तिम लक्ष्य विषयक है, तथापि मेरा वर भी अन्तिम है। यदि इसके बदले कोई अन्य वर मांग लूँ, तो इसका समाधान कैसे करूँगा ? अतः नचिकेता दूसरा वर नहीं मांग सकता। कृपया इसका समाधान कीजिये ॥ २९ ॥

॥ कठोपनिषद् की प्रथमा वल्ली समाप्त हुई ॥

अथ द्वितीया वल्ली प्रारम्भः

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु-भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

पदार्थ—(अन्यत्) अन्य है (श्रेयः) मोक्ष प्राप्ति का साधन, कल्याणकारी कर्म्म (अन्यत्) भिन्न है (उत) और (एव) ही (प्रेयः) अति प्रिय प्रतीत होने वाला कर्म्म, धन दारादि सांसारिक सुखों का साधन। (ते + उभे) वे दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न प्रयोजनों वाले होते हुए (पुरुषम्) जीवात्मा को (सिनीतः) वासना के पाशों में बांधते हैं। (तयोः) उनमें से (श्रेयः + आददानस्य) श्रेयो मार्ग को ग्रहण करने वाले अर्थात् मोक्ष साधन को ग्रहण करने वाले का (साधु) भला (भवति) होता है, अर्थात् मोक्ष मिल जाता है। (हीयते) छूट जाता है (अर्थात्) लक्ष्य से (यः) जो (उ) तो (प्रेयः) प्रेय को (वृणीते) ग्रहण करता है, स्वीकार करता है।

भावार्थ—संसार में दो प्रकार के कर्म्म हैं, एक वे जिनके करने में कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता, वरन् अत्यन्त लुभावने प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका परिणाम अच्छा नहीं

होता, इसको प्रेयोमार्ग अर्थात् सांसारिक सुखों का मार्ग कहते हैं, इस पर आजकल पाश्चात्य संसार चल रहा है। दूसरा वह मार्ग, जिसके आरम्भ में कोई सुख-सुविधा नहीं, वरन् अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, परन्तु अन्त में सबसे बड़ा सुख जिसको मोक्ष कहते हैं मिलता है। इसका नाम श्रेयो मार्ग है, जिसपर चलने वाले श्रेष्ठ कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्म्मों की इच्छा जीवात्मा को वासना की रस्सी से बाँध देती है। इनमें से जो श्रेयो मार्ग पर चलने के साधनों का अनुष्ठान करता है, वह सफल हो जाता है अर्थात् दुःखों से छूटकर महाकल्प तक रहने वाले मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। और जो प्रेयोमार्ग को अंगीकार करता है, वह इसमें सफल नहीं होता। संसार में बोना और खाना दो प्रकार के कर्म्म हैं। खानेवाला वर्त्तमान पदार्थों को खाकर खो देता है और बोने वाला बोकर उसे सैकड़ों गुणा कर लेता है। एक का प्रारम्भ अच्छा और अन्त बुरा है, दूसरे का प्रारंम्भ वैसा भला नहीं प्रतीत होता किन्तु अत्यन्त शुभ होता है। इस प्रकार गिरना और चढ़ना दो प्रकार की गतियाँ हैं। जो गिरता है उसको आरम्भ में कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता, किन्तु जिस समय गिरने की सीमा तक पहुँचता है तो बहुत प्रबल चोट लगती है, कई बार तो गिरने वाला मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जो ऊपर को चढ़ता है, उसको आरम्भ में बहुत श्रम करना पड़ता है, क्योंकि उसे भूमि के आकर्षण के विरुद्ध प्रयत्न करना होता है, बहुत शक्ति लगानी पड़ती है जिससे थकावट होती है, किन्तु लक्ष्य पर पहुँचते ही बहुत ही आनन्द मिलता है। इस प्रकार के प्रेयोमार्ग और श्रेयो मार्ग हैं। इन दोनों मार्गों पर मनुष्य अपने साहस और उत्साह के अनुसार चलते हैं। जो मनुष्य दुर्बल हृदय वाले हैं, वे पहले सुख को ही चाहते हैं; इससे वे चरम सुख के लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहते हैं। जो दूरदर्शी हैं, जिनका उत्साह और साहस प्रबल है, वे आरम्भ के कष्टों की गणना न करके उस मार्ग पर चलते हैं, जिसका अन्त अत्यन्त उत्तम है, जिसमें बहुत ही सुख मिलता है। जैसा कि एक कवि ने कहा है—

भद्रो हि स मनुष्योऽस्तिअवन्तान् यः साधु पश्यति।

[वह मनुष्य सचमुच भला है, जो उत्तम परिणामों को भली प्रकार देख लेता है।] ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥

पदार्थ—(श्रेयः) श्रेयोमार्ग, कल्याणपथ (च) और (प्रेयः) प्रेयोमार्ग, सांसारिक सुख (च) भी (मनुष्यम्) मननशील प्राणी को (एतः) प्राप्त होते हैं, अर्थात् मनुष्य का इन दोनों मार्गों से सम्बन्ध होता है। (तौ) उन दोनों की (सम्परीत्य) भली प्रकार परीक्षा करके (विविनक्ति) छानबीन करता है (धीरः) धैर्यशील बुद्धिमान् मनुष्य। (श्रेयः) कल्याणमार्ग को, परिणाम में सुख देने वाले मार्ग को (हि) ही (धीरः) विवेकी मनुष्य (प्रेयसः+अभि) प्रेयोमार्ग की अपेक्षा (वृणीते) स्वीकार करता है। (प्रेयः) प्रेयोमार्ग को (मन्दः) अज्ञानी (योगक्षेमात्) योगक्षेम से=सांसारिक अभावों से बचने और विषयसुखों की प्राप्ति का साधन मान कर (वृणीते) अङ्गीकार करता है।

भावार्थ—पूर्वोक्त दोनों प्रकार के मार्ग मनुष्य के सामने आते हैं। उनमें से जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं, जिसको सत्यासत्य के विवेक का सामर्थ्य है, जिनको संकीर्ण हृदयता, प्रमाद, आलस्य, सुखलिप्सा ने नहीं घेरा हुआ जिनके विचार उदार हैं, वह तो प्रेयोमार्ग को छोड़कर श्रेयोमार्ग=कष्टसाध्य मार्ग का अवलम्बन करते हैं। यद्यपि प्रेयोमार्ग में आरम्भ में सुख दीखता है तथापि परिणाम में उसमें दुःख ही दुःख है, अतः वे इसका अनुसरण नहीं करते। किन्तु जो लोग मन्दमति, साहसहीन हैं, जिनमें इतना विवेक और उत्साह नहीं कि वे धैर्य से इस मार्ग पर चल सकें कि जिसका फल विलम्ब से मिलता है, वे बाह्य कष्टों से बचने के विचार से, और बाह्य सुख का साधन जान कर सांसारिक सुखों-धनदारा की वासना में आ गिरते हैं।

प्रश्न—क्या धन-सम्पत्ति आदि की कामना करना मूर्खों और कायरों के कार्य्य हैं, हम तो बड़े-बड़े योग्य मनुष्यों को इसमें ग्रस्त हुआ देखते हैं, जिनकी विद्वत्ता की जगत् में धाक है।

उत्तर—निस्सन्देह जो लोग अपने स्वरूप से अपरिचित हैं, जिनको 'मैं कौन हूँ, मेरा क्या है ?' का यथार्थ ज्ञान नहीं है, जो यह भी नहीं जानते कि उनके लिये क्या लाभदायक और क्या हानिकारक है, उनको लोग भले ही महाविद्वान् या योग्य कहें वास्तव में वे विवेकशून्य हैं। क्योंकि सांसारिक धनादि शरीर के लिये उपयोगी हैं न कि आत्मा के लिये। उनके संसर्ग से आत्मा को हानि पहुँचती है, अतः ऐसे लोगों को योग्य और बुद्धिमान् कहना ऐसा ही है, जैसे नाई का नाम राजा रखना है ॥२॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

भावार्थ—(सः) उस (त्वम्) तू ने [मेरे बहुत लोभ दिखलाने पर भी] (प्रियान्) प्रिय [पुत्र पौत्र आदि] (प्रिय-रूपान्) प्यारी लगने वाली स्त्रियों (च) और (कामान्) इच्छाओं को (अभिध्यायन्) विचार करके [दुःखरूप समझ कर] (नचिकेतः) हे नचिकेतः! (अत्यस्राक्षीः) त्याग दिया है। (न) नहीं (एताम्) इस (सृङ्काम्) माला को, श्रृङ्खला को (वित्तमयीम्) जो भोग-साधन धनधान्य से पूर्ण है (अवाप्तः) प्राप्त किया (यस्याम्) जिसमें (मज्जन्ति) डूब जाते हैं, फँस जाते हैं (बहवः) बहुत से (मनुष्याः) मनुष्य।

भावार्थ—यमाचार्य्य ने कहा—हे नचिकेतः! मैंने तुमको सन्तान अर्थात् पुत्र पौत्रों का प्रलोभन दिया, और सुन्दर रूपवती स्त्रियों का प्रलोभन भी दिया, संसार की समस्त कामनाओं की पूर्त्ति का प्रबल प्रलोभन भी दिया, किन्तु तू ने इनमें से किसी को भी अङ्गीकार नहीं किया। मैंने तुम्हें इस सांसारिक धन का, जिसमें अनेक मनुष्य फँसे हुये हैं; प्रलोभन दिया, किन्तु तूने इनमें से किसी को लेना स्वीकार नहीं किया। राज्य और धन का लोभ भी दिया, अर्थात् लोकैषणा की सारी सामग्री तेरे सामने प्रस्तुत की, किन्तु तूने इसमें से किसी को भी न चाहा। सारांश यह कि आत्मज्ञान की सभी रुकावटें तुम्हारे मार्ग में ला खड़ी कीं किन्तु कोई भी रुकावट तुमको रोक नहीं सकी, अभीष्ट लक्ष्य से हटा नहीं सकी। तू किसी भी कामना में न फँसा। अतः तेरी यह स्थिर मति सचमुच स्तुति के योग्य है ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

पदार्थ—(दूरम्) अत्यन्त (एते) ये दोनों (विपरीते) एक दूसरे के विपरीत (विषूची) दो विरुद्ध भावों को प्रकट करने वाली (अविद्या) अविद्या=प्रेयोमार्ग जिसका आरम्भ भला और अन्त बुरा है (या) जो (च) और (विद्या) श्रेयोमार्ग, जिसका आरम्भ शुष्क, अप्रिय किन्तु परिणाम कल्याणकारी है (इति) इस प्रकार (ज्ञाता) जानी गई हैं। (विद्याभीप्सिनम्) विद्या का=श्रेयोमार्ग का अभिलाषी (नचिकेतसम्) नचिकेता को (मन्ये) मानता हूँ। (न) नहीं (त्वा) तुझको (कामाः) कमनीय वस्तुओं या कामनाओं ने (बहवः) बहुत सी (अलोलुपन्त) लुभाया अपने जाल में फँसाया।

भावार्थ—हे नचिकेतः! यह मैंने भलीभाँति जान लिया है कि अविद्या जिसका आरम्भ लुभावना और मनमोहक है किन्तु परिणाम अमङ्गल है, और विद्या जिसका प्रारम्भ शुष्क, नीरस है किन्तु परिणाम परमानन्द देने वाला है, ये दोनों परस्पर विपरीत फलों वाली हैं। तू अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान के विरुद्ध विद्या को जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का—जैसी जो वस्तु है, उसको वैसा जानना यथार्थ—यथार्थ ज्ञान कराती है, चाहने वाला है। हे नचिकेतः! तुझको

संसार की धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा और विषयभोग लालसा अपने फन्दे में नहीं फँसा सकते। वास्तव में तू अविद्या के चंगुल से बहुत दूर निकल गया है। अब तू अविद्या में नहीं फँस सकता, तूने विवेक प्राप्त कर लिया है। जिसको विवेक प्राप्त हो जाता है, वह भले को त्याग कर बुरे की प्राप्ति का विचार भी नहीं कर सकता।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

पदार्थ—(अविद्यायाम्) अविद्या=मिथ्याज्ञान=प्रेयोमार्ग के, [जो आरम्भ में मनोमोहक होता है] (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) रहते हुये, काम करते हुये, फँसे हुये (स्वयं+धीराः) अपने को धीर=ज्ञानी समझने वाले (पण्डितंमन्यमानाः) अपने आपको पण्डित=सत्यासत्य का विचार करने वाला मानने वाले (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिलमार्गगामी, छल कपट के व्यवहार करने वाले (परियन्ति) नीच गति को प्राप्त होते हैं (मूढाः) मूढ जन (अन्धेन) अन्धे से (एव) ही (नीयमानाः) ले जाये जाते हुये (यथा) जैसे (अन्धाः) अन्धे ।

भावार्थ—अविद्या में ग्रस्त लोग अर्थात् लुभावने पदार्थों को प्राप्त करने में लगे हुये लोग अपने आपको धीर और पण्डित मानने वाले नीच गति=दुरवस्था को प्राप्त करते हैं; जैसे किसी अन्धे के पीछे लग कर अन्धा कूप में जा गिरता है। अहो! कितना सुन्दर उपदेश है। जो प्रेयोमार्ग में प्रवृत्त होकर विषय-वासनाओं में फँस कर अपने आत्मिक पतन के साधन जुटा रहे हैं, जो किसी समय भी नहीं सोचते कि 'मैं क्या हूँ? मेरे लिये क्या लाभदायक और क्या हानिकारक है, वरन् ऐसा विचारने वालों को सत्यज्ञानशून्य अविवेकी कहकर, उनके ज्ञान को जो यथार्थ और सुखकारक है, भ्रम बतलाकर अपने भ्रान्तज्ञान को निर्भ्रान्त बतलाते हैं, ऐसे लोगों की वही हालत होती है, जैसे एक अन्धे की दूसरे अन्धे के पीछे लग कर कुँए में गिरने से होती है। विषय-वासना में फँसे हुये लोगों का अनुसरण करने से लोग अत्यन्त नीच दशा को पहुँच चुके हैं। उनको अपने स्वरूप तथा सत्ता का ज्ञान तो है नहीं किन्तु अभिमान करते हैं विज्ञान (पदार्थविद्या) के जानने का। ये लोग स्वयं भी कष्ट पाते हैं, और अपने अनुकरण से हजारों मनुष्यों को वैदिकधर्म्म के स्थान में इन्द्रियासक्त बनाकर पाप में फँसाते हैं। संसार के जितने पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध शरीर से है, जो उत्पत्ति और विनाशवाला है, सहस्रों प्रयत्न करने पर भी जो अवश्य नाश को प्राप्त होगा, जो किसी भी अवस्था में सदा नहीं बना रहेगा, अजर अमर अविनाशी आत्मा की उपेक्षा करके उस अवश्य नष्ट होने वाले शरीर का दास बनना मूर्खता नहीं तो क्या है? सांसारिक (भौतिक) पदार्थ कोई भी ऐसा नहीं जो आत्मा के लिये हितकर हो। नित्य आत्मा के लिये अनित्य विषय भोग कैसे हितकर हो सकते हैं? नित्य के लिये अनित्य किसी दशा में भी लाभदायक नहीं हो सकता। आत्मा के लिये विद्या और तप ये दो कार्य ही हितकर और लाभदायक हैं। विद्या पवित्र परमात्मा की सत्ता से इलहाम के द्वारा (वेद के द्वारा) प्रकट होती है, और सदा एक रस रहती है कभी विकृत नहीं होती है। इसके द्वारा मनुष्य श्रेयोमार्ग के लक्ष्य तक पहुँच पाता है। कोई प्रेयोमार्गगामी इसे नहीं जान सकता। जो श्रेयोमार्ग पर चलते हैं जो अविद्या के पाशों को काट कर विद्यामृत का स्वाद लेते हैं, जिनको चारों ओर अमृत का भंडार दिखाई देता है। वे किसी एक पाश में बन्धे हुए नहीं होते, वरन् संसार के उपकार को ही अपने जीवन का उद्देश्य मानते हैं। तप कहते हैं ननुनच किये बिना शीत उष्ण, क्षुधा तृष्णा आदि विरुद्ध द्वन्द्वों को सहन करना। तप का अनुष्ठान वही कर सकते हैं जिन्हें आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान हो चुका है। जो अपने आप को आत्मा समझते हैं, वही शारीरिक कष्टों से नहीं घबराते, क्योंकि आत्मा इन से परे है ॥५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्त-

मोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

पदार्थ – (न) नहीं (साम्परायः) मुक्ति के साधन, ब्रह्म ज्ञान के साधन, ब्रह्मचर्य्य ईश्वरविश्वास आदि (प्रतिभाति) प्रतीत होता है, चित्त को खींचता है (बालम्) अविवेकी मनुष्य को, प्रमादी को, मुक्ति से उपेक्षा करने वाले को (वित्तमोहेन) धन के मोह से अर्थात् सांसारिक विषयों की आसक्ति के कारण (मूढम्) सर्वथा अन्धकार से ढके हुए को। (अयम्) यही प्रत्यक्ष दीखने वाला (लोकः) संसार, शरीर या सांसारिक विषय ही सत्य हैं, (न) नहीं (अस्ति) है (परः) दूसरा जन्म या परमार्थ (इति मानी) ऐसा मानने वाला (पुनः - पुनः) बार-बार (वशम्) वश में (आपद्यते) आ पड़ता है (मे) मेरे अर्थात् मौत के।

भावार्थ—आचार्य्य ने कहा—हे नचिकेतः ! जो अज्ञानी मनुष्य जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है; जो यह नहीं जानते कि 'हम क्या हैं' धनमोह से अन्धा होने के कारण मुक्ति के साधनों पर चित्त को नहीं लगा सकते। वे दूसरों को मरता हुआ देखते हैं, धनियों के धन का नाश देखते हैं और उनकी सन्तान को मरता और राजाओं को विपद् आपद् में पड़ता देखते हैं, बड़े बड़े शूर-वीरों को रोग के कारण दुर्बल और क्षीण होता देखते हैं—ये सब देखते हुए भी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण आने के कारण मुक्ति के साधनों की ओर उनकी रुचि नहीं होती। जैसा निश्चित ज्ञान होता है, वैसा आचरण संसार में देखने में आता है। किन्तु जब निश्चयात्मक ज्ञान न हो, तब आचरण भी नहीं हो सकता। निश्चयात्मक ज्ञान मेधा बुद्धि के द्वारा होता है। जैसे रूप का ज्ञान चक्षु से होता है। जब तक चक्षु निर्दोष होता है तब तक उसके द्वारा होने वाला ज्ञान भी यथार्थ और निर्दोष होता है, यदि आँख में कामला रोग (पीलिया) हो जाये तो वस्तुओं के यथार्थ रूप के स्थान में आँख को सभी पीला दिखाई देता है। ऐसे ही जिसकी मेधाबुद्धि होती है, उसको ये सांसारिक विषय आत्मा के लक्ष्य में प्रतिबन्धक = रुकावट प्रतीत होते हैं। इससे वह वैराग्य प्राप्त करता है। संसार के सब पदार्थ शरीर के लिये हैं। कोई सांसारिक पदार्थ ऐसा नहीं, जिसका सम्बन्ध शरीर के बिना आत्मा से हो। शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है, वह सब अपवित्र तथा घिनौना है। आँख से जो कुछ निकलता है वह गन्दा है, कान से मल निकलता है वह भी अपवित्र है, नाक से जो निकलता है वह भी मैला है, मुख से थूक निकलती है वह भी दूषित है, मल-मूत्र तो हैं ही अपवित्र, पसीने से भी दुर्गन्ध आती है। सारांश यह है कि शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है वह सब दुर्गन्धमय है, इसमें कोई भी पवित्र नहीं है। किन्तु जब तक यह मलिन पदार्थ शरीर के भीतर रहते हैं तब तक उनसे दुर्गन्ध नहीं आती, क्योंकि भीतर शुद्ध करने वाली शक्ति आत्मा विद्यमान है। जब तक शरीर में आत्मा विद्यमान है तब तक शरीर मैला नहीं प्रतीत होता। किन्तु ज्यों ही आत्मा शरीर से पृथक् हुआ, त्यों ही यह शरीर ऐसा गन्दा प्रतीत होने लगता है कि जिस मकान में एक दिन मृतक शरीर पड़ा रहे वहाँ ही नहीं, वरन् पास पड़ोस के मकानों के वायु को भी दूषित कर देता है। कई दिनों तक वायु शुद्धि के लिये हवन करने की आवश्यकता अनुभव होती है। ब्राह्मण पातक समझ कर उस घर में बना भोजन खाने से इन्कार कर देते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर तो वास्तव में है ही अपवित्र, किन्तु यह तब तक अपवित्र प्रतीत नहीं होता, जब तक पवित्र करने वाला आत्मा इसके भीतर विद्यमान है; और आत्मा अवश्यमेव एक दिन इस शरीर को त्याग देगा। चाहे कुछ खायें, केसर खायें कस्तूरी खायें तो भी मृतक शरीर दुर्गन्ध ही फैलायेगा, सुगन्ध कभी नहीं देगा। हम जो कुछ खाते हैं वह शुद्ध होता है, किन्तु शरीर के संसर्ग से वह सब अपवित्र हो जाता है। जो मेधाबुद्धि वाले हैं वे इस मलिन देह की अपेक्षा शुद्ध आत्मा से अधिक प्यार करते हैं जिनकी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण चढ़ा

हुआ है, वे आत्मा को न जानने या आत्म-विस्मृति के कारण यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि यह प्रत्यक्ष जगत् तो है, किन्तु इसके आगे दूसरा जन्म कोई नहीं। यद्यपि मृत्यु का भय उन्हें प्रतिदिन स्मरण कराता है कि मृत्यु को उन्होंने पहले अनुभव किया हुआ है, क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव किया हो या इन्द्रियों द्वारा प्रतीत न किया हो, उसके विषय में प्रीति या द्वेष का होना असंभव है। मृत्यु से द्वेष है, अतः मृत्यु का अवश्य इससे पूर्व भी अनुभव हो चुका है तथापि मृत्यु से द्वेष करते हुए भी ये अज्ञानी नहीं मानते, कि मौत का अनुभव पहले हो चुका है। ऐसे लोग जो अज्ञान के कारण केवल बाह्य पदार्थों में रत हैं जिनको आत्मज्ञान से प्रीति नहीं है बार-बार मृत्यु के वश में आते हैं अर्थात् जन्मते और मरते रहते हैं। वास्तव में उस मनुष्य से अधिक अभागा कोई नहीं जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान न हो। किन्तु अविद्या=मिथ्या-ज्ञान की महिमा कुछ विचित्र ही है कि लाखों मनुष्य जो अपने स्वरूप, सत्ता तथा गुणों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं अपने को अनुपम मान रहे हैं। जिस प्रकार अन्धा सूर्य्य को नहीं देख पाता, यदि वह घोषणा करे कि सूर्य्य नहीं है, तो उसका यह कथन उसके अन्धेपन के प्रमाण के अतिरिक्त और क्या सिद्ध कर सकता है? ऐसे ही कई लोग अपने अज्ञान और आत्म-विस्मरण से पुनर्जन्म और ईश्वर को न मानते हुए, परमात्म प्राप्ति के साधनों से वञ्चित रहकर, संसार के राग में रत होकर दूसरों के जीवनों का नाश कर रहे हैं, उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे आप तो डूब रहे हैं साथ ही दूसरों को भी डुबा रहे हैं ॥६॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि
बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य
लब्धाश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

पदार्थ—(श्रवणाय) सुनने के लिये (अपि) भी (बहुभिः) बहुत से मनुष्यों को (यः) जो नहीं (लभ्यः) मिलता (शृण्वन्तः) सुनते हुए (अपि) भी (बहवः) बहुत से लोग (यम्) जिसको (न) नहीं (विद्युः) जान सकते (आश्चर्यः) चकित करने वाला, अर्थात् दुर्लभ (अस्य) इस परमात्मा का (वक्ता) उपदेश करने वाला; [अर्थात् इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाला बहुत कठिनता से मिलता है, इसका प्राप्त होना आश्चर्यकारी है।] (कुशलः) अत्यन्त चतुर है (अस्य) इस ब्रह्मज्ञान का (लब्धा) प्राप्त करने वाला, [अर्थात् बहुत बड़ा बुद्धिमान ही इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है।] (आश्चर्यः) अत्यन्त दुर्लभ है (ज्ञाता) जानने वाला ब्रह्मचारी (कुशलानुशिष्टः) अत्यन्त योग्य चतुर आचार्य्य से शिक्षित हुआ।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं कि ब्रह्मविद्या के सुनने का अवसर भी अनेकों को नहीं मिलता। क्योंकि न तो योग्य आचार्य्य ही मिलता है और न ही इसके जानने की तीव्र उत्कण्ठा ही होती है और बहुत से लोग इसे पढ़ते सुनते भी इसकी वास्तविकता को यथार्थ रूप में नहीं जान सकते। संसार का नियम ही ऐसा है, प्रथम तो रत्नों की दुकानें ही कम होती हैं, दूसरे इसके ग्राहक अत्यन्त अल्प होते हैं, अतः लाखों करोड़ों दरिद्रों को रत्नों के नाम और प्रकार भी ज्ञात नहीं होते। बहुत से खरीदने का सामर्थ्य रखते हैं, उन्हें रत्नों की दुकान भी मिल जाती है किन्तु वे रत्न को पहचान नहीं सकते, उन्हें रत्नों की परीक्षा करनी नहीं आती। ऐसे ही अनेक लोग ब्रह्मविद्या प्राप्ति की कामना तो रखते हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या वेत्ता आचार्य्य के पास जाकर भी अपनी मूढ़ता के कारण उसकी परख नहीं कर पाते। वस्तुतः ब्रह्मविद्या का ज्ञाता होकर उपदेष्टा अत्यन्त दुर्लभ है।

इस विद्या को जानना सरल नहीं है अत्यन्त बुद्धि-मान् मेधावी ही इसको प्राप्त कर सकता है। जब तक ब्रह्म-श्रोत्रिय अर्थात् वेद-विद्या का ज्ञाता और ब्रह्म-निष्ठ = परमात्मा का पूर्ण विश्वासी आचार्य उपदेश करने वाला न मिले, उसको कोई जान नहीं सकता। ऐसे

आचार्य्य की खोज बहुत कठिन है, क्योंकि जो ब्रह्मविद्या को जानते हैं, वे कहते नहीं, और जो कहते हैं, वे जानते नहीं। अतः उसका पता लगाना बहुत कठिन है, क्योंकि जो कहे मैं ब्रह्मविद्या का जानकार हूँ, वह वास्तव में ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ होता है, उससे शिक्षा लेना व्यर्थ है। और जो यह स्वीकार ही न करे कि वह ब्रह्मविद्या का ज्ञाता है, किस तरह समझा जाये कि यह ब्रह्मवेत्ता है और कि इससे उपदेश लेना चाहिये। ब्रह्मविद्या के सीखने-सिखानेवाले दोनों ही दुर्लभ हैं।

यमाचार्य्य के इस कथन का तात्पर्य्य यह है कि हे नचिकेतः! तू बहुत ही बुद्धिमान् है, जो तू ब्रह्मविद्या सीखना चाहता है ॥७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

पदार्थ—(न) नहीं (नरेण) मनुष्य के द्वारा (अवरेण) अश्रेष्ठ=साधारण, [जो इस लक्ष्य तक नहीं पहुँचा] (प्रोक्तः) बतलाया हुआ (एषः) यह ब्रह्मज्ञान (सुविज्ञेयः) आसानी से जाना जा सकता है (बहुधा) अनेक प्रकार से (चिन्त्यमानः) सोच-विचार करने से। (अनन्यप्रोक्ते) दूसरे के बतलाये बिना अर्थात् अनुपम आचार्य्य के उपदेश के बिना (गतिः) गति, पहुँच, पहचान, ज्ञान (अत्र) इस विषय में ब्रह्मविद्या में आत्मज्ञान में (न+अस्ति) नहीं है, क्योंकि (अणीयान्) यह बहुत सूक्ष्म है (हि) सचमुच (अतर्क्यम्) तर्क से परे है (अणुप्रमाणात्) सूक्ष्मतम होने के कारण*।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं, हे नचिकेतः! यह ब्रह्मज्ञान, उन मनुष्यों के उपदेश से, जो स्वयं ब्रह्मज्ञान से शून्य हैं, जिन्हें केवल भौतिक पदार्थ विद्या Material science का ही ज्ञान है, नहीं जाना जा सकता। यद्यपि योगिजन और संसार के भक्तिमार्गी इसका अनेक प्रकार से विचार करते हैं, किन्तु उनके उपदेश से भी इसका जानना सरल नहीं है। ब्रह्मश्रोत्रिय=वेदवेत्ता विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ=ईश्वर विश्वासी आचार्य्य के उपदेश के बिना अन्य किसी प्रकार से इस विद्या में गति नहीं हो सकती, और न ही दूसरे के उपदेश के बिना, अपने-आप ही इसको कोई जान सकता है। भाव यह है कि न तो अज्ञानी गुरु इसका उपदेश दे सकता है, और न ही गुरु के बिना इसमें गति हो सकती है। ब्रह्म के सुसूक्ष्म होने से ब्रह्मविद्या भी अति सूक्ष्म है। इसमें तर्क का विशेष अधिकार नहीं है। तर्क हेतु और उदाहरण के आश्रित होकर चलता है, यहाँ हेतु और उदाहरण दुर्लभ से हैं। जो हेतु और उदाहरण मिलते हैं, वे सब इस स्थूल भौतिक जगत् से मिलते हैं, वे सब जन्य हैं। अजन्य को जन्य के दृष्टान्त से समझाना दोषयुक्त हो सकता है। अतः अतीव सूक्ष्म परमात्मा का यथार्थ बोध केवल ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश द्वारा ही हो सकता है ॥८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

पदार्थ—(न) नहीं (एषा) यह, मेरी दी हुई (तर्केण) तर्क के द्वारा (आपनेया) हटाई जा सकती (मतिः) मति, बुद्धि, ब्रह्म विद्या (प्रोक्ता) कही हुई (अन्येन) दूसरे से अर्थात् तार्किक से भिन्न वेदवेत्ता आचार्य से (एव) ही (सुज्ञानाय) उत्तम ज्ञान के लिये (प्रेष्ठ) हे सबसे अधिक प्रिय! (याम्) जिसको (त्वम्) तूने (आपः) प्राप्त किया है (सत्यधृतिः) सच्चे धैर्य वाला

* बहुत से पुस्तकों में "अनुप्रमाणात्" पाठ है। उसके अनुसार अर्थ होगा—प्रमाण के विचार से यह आत्मा या आत्मज्ञान अतर्क्य=तर्क का विषय नहीं है, क्योंकि यह तो साधनानुष्ठान के बाद होनेवाले साक्षात्कार का विषय है। जैसे मिठास का तर्क से ज्ञान नहीं हो सकता, मीठे पदार्थ को चखने से ही होता है।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

पदार्थ—(जानामि) जानता हूँ (अहम्) मैं (शेवधिः+(इति) धन-सम्पत्ति को (अनित्यम्) अनित्य, स्थिर न रहने वाला (हि) सचमुच (अध्रुवैः) स्थिर न रहने वाले धनादि पदार्थों के द्वारा (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है (ध्रुवम्) अचल, नित्य (तत्) वह (ततः) इस कारण मैंने (नाचिकेतः) नाचिकेत (चितः) चयन किया है (अग्निः) अग्नि। (अनित्यैः) अस्थिर (द्रव्यैः) द्रव्यों अर्थात् मन इन्द्रिय और शरीर के द्वारा (प्राप्यवान्+अस्मि) प्राप्त किया है (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को।

भावार्थ—यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेतः! इसमें जो धन संपत्ति, मान प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य्य एवं प्रभुता है, उसको अनित्य अस्थिर मानता हूँ। मुझे यह भी पूर्णतया ज्ञात है कि इस अनित्य, विनश्वर धनादि से वह नित्य अविनाशी ब्रह्म नहीं मिल सकता। इसी कारण, हे नचिकेतः! मैंने उस नाचिकेत अग्नि का जिसका तुम्हें मैंने उपदेश किया है, फल की कामना छोड़ कर, चयन किया है, इससे मैं अनित्य द्रव्यों—मन, इन्द्रिय एवं शरीर के द्वारा उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त हुआ हूँ। तात्पर्य यह है कि यदि कोई धनादि के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने की कामना करे, तो उसकी यह कामना सफल नहीं हो सकती। किन्तु यदि वह इस धन-सम्पत्ति को निष्काम होकर परोपकार यज्ञ में लगादे तो इससे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, अन्तःकरण की शुद्धि से इन्द्रियाँ वश में हो जायेंगी, इन्द्रियों को वश में करने पर उस शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। अतः, हे नचिकेतः! मैंने इन अनित्य पदार्थों के त्याग से उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त किया है ॥१०॥

(बत) सचमुच (असि) तू है (त्वादृग्) तेरे जैसा (नो) नहीं है (भूयान्) दूसरा (नचिकेतः) हे नचिकेतः! (प्रष्टा) पूछने वाला शिष्य, जिज्ञासु।

भावार्थ यमाचार्य्य ने कहा—हे नचिकेतः! तू मेरी इस दी हुई विद्या को तर्क वितर्क से नष्ट मत कर देना। यह तर्क से भी प्रबलतर वेदवेत्ता आचार्य्य का उपदेश है। तर्क में भ्रम की संभावना है, क्योंकि बहुधा हेतु के स्थान में हेत्वाभास* का प्रयोग हो जाता है। किन्तु वेद का उपदेश तो यथार्थ ज्ञान कराने के लिये होता है। हे प्रिय शिष्य! जिस ब्रह्म विद्या को तू ने प्राप्त किया है, उसको सत्य और धृति के साथ व्यवहार में ला। कृपा से पूर्ण होकर आचार्य ने कहा—हे नचिकेतः! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ, तेरे जैसा अनुपम शिष्य मिले, ऐसे अधिकारी विद्यार्थी को पढ़ाने से ऋषि-ऋण पूरा होता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस समय किसी गुरु को अधिकारी विद्यार्थी मिल जाता है, उस समय उसको असीम प्रसन्नता होती है।

प्रश्न—मनु ने कहा है कि जो तर्क से जाना जाये, वही धर्म्म है†। यहाँ यमाचार्य्य तर्क का निषेध कर रहे हैं।

उत्तर—इस स्थिति पर पहुँचने पर तर्क काज नहीं देता, क्योंकि इस सूक्ष्म पदार्थ को प्राप्ति के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है वे तर्क से नहीं मिल सकते। मनु ने धर्म कर्त्तव्य के संबन्ध में तर्क का उपदेश दिया है। और यह विज्ञान का स्थान है। अतः इन दोनों में विरोध नहीं है, जैसे ब्रह्मचर्य्याश्रम गृहस्थाश्रम तथा वानप्रस्थाश्रम में यज्ञोपवीत धारण करते हैं और संन्यास में उतार देते हैं। आश्रम भेद के कारण इस उपदेश भेद में कोई विरोध नहीं है ॥९॥

---

* हेत्वाभास=जो हेतु की तरह प्रतीत हो, किन्तु न हो॥ हेतु और हेत्वाभास का भेद न्याय दर्शन के अभ्यास से जाना जा सकता है।

† यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः (मनु०) जो तर्क के द्वारा जाँच करता है, धर्म्म को जान सकता है, दूसरा नहीं।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

पदार्थ - (कामस्य) इच्छानुसार भोग की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जगत् की, प्राणिमात्र की (प्रतिष्ठाम्) स्थिति को, मान को (क्रतोः) अश्वमेध आदि यज्ञ की (आनन्त्यस्य) अनन्त के, अखण्ड के (अभयस्य) निर्भयता के स्वतन्त्रता के (पारम्) सीमा को (स्तोमम्) संसार की स्तुति को (महत्) बड़ी (उरुगायम्) अनेकों से गाई जाती हुई (प्रतिष्ठाम्) मानमर्यादा को (दृष्ट्वा) देख कर, जान कर (धृत्या) धैर्य्य पूर्वक (धीरः) ध्यानवान् होकर, (नचिकेतः) हे नचिकेतः ! तू ने (अत्यस्राक्षीः) त्याग कर दिया है।

भावार्थ— हे नचिकेतः ! यद्यपि संसार की स्थिति स्त्री-पुरुष के संयोग से होती है. तथापि तेरे चित्त में उसकी इच्छा नहीं है। यद्यपि अग्निहोत्र से अश्वमेध तक यज्ञ अनन्त या अखण्ड हैं, यद्यपि निर्भयता और स्वतन्त्रता की चरम सीमा प्राप्त की जा सकती है, यद्यपि संसार के साधारण जन बहुत प्रशंसा करते और कहते हैं कि यह उत्कृष्ट अवस्था है, कवि लोग भी इसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं, तथापि हे नचिकेतः! तू ने इन सब को तुच्छ समझ कर, ध्यान के द्वारा पदार्थों के तत्व को जान कर धैर्य्य से इनका त्याग किया है। इससे तेरे ज्ञान का मान करना पड़ता है।

क्या इस कथा को पढकर कोई कह सकता है कि प्राचीन भारत के वासी असभ्य थे ॥११॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

भावार्थ—(तम्) जो बहुत सुनने वालों को भी दुर्लभ है, उस परमात्मा को (दुर्दर्शम्) कठिनता से जिसके दर्शन होते हैं उस (गूढम्) गूढ=इन्द्रियागोचर होने से गुप्त

(अनुप्रविष्टम्) शरीर के भीतर रहने वाले जीव के भी भीतर प्रविष्ट (गुहाहितम्) मेधाबुद्धि रूपी गुफा में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुर्गम स्थानों में स्थित (पुराणम्) अनादिकाल से वर्तमान (अध्यात्मयोगाधिगमेन) अध्यात्मयोग की प्राप्ति से [बाह्य इन्द्रियों का विरोध करके, चित्त को एकाग्र करके योग के द्वारा] (देवम्) प्रकाशस्वरूप को (मत्वा) जानकर (धीरः) ध्यानाभ्यासी अथवा धैर्य्यशाली विद्वान् (हर्षशोकौ) हर्ष शोक को (जहाति) छोड़ देता है। अर्थात् उसे कोई पदार्थ हितकर या हानिकर प्रतीत नहीं होता, जिससे कि वह हर्ष शोक करे।

भावार्थ—जिस के गुणगण सुन कर भी साधारण लोग उसे नहीं जान पाते। उस दुर्विज्ञेय परमात्मा के जानने से ध्यानाभ्यासी विद्वान् संसार के रागद्वेष और हर्ष-शोक से छुटकारा पा जाता है। परमात्मा कहीं दूर नहीं है, वरन् अत्यन्त समीप है किन्तु इन्द्रियों के गोचर न होने से छिपा हुआ है। जैसे अंजन (सुरमा) आँख से कहीं दूर नहीं होता, किन्तु अत्यन्त समीप होने के कारण दिखाई नहीं देता उसे देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता हुआ करती है। इस प्रकार परमात्मा शरीर के भीतर प्रवेश किये हुए जीवात्मा के भी अन्दर प्रविष्ट है। अर्थात् अत्यन्त समीप है, केवल शुद्ध बुद्धि या मन के द्वारा उसके दर्शन हो सकते हैं या ज्ञान से उसे जान सकते हैं। आत्मा के भीतर रहने से मानो वह ऐसे स्थान पर है जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि वह सदा से सब के भीतर विद्यमान है तथापि उसको बहुत कठिनता से जाना जा सकता है। केवल वही लोग जो मन को शुद्ध और एकाग्र कर सकते हैं, उसके दर्शन पा सकते हैं। अर्थात् मन के एकाग्र होने से उसके आनन्द को प्राप्त कर उसे जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या भक्तों को परमात्मा का दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—जो ज्ञान उपार्जन करके मन को निष्काम कर्म्म द्वारा शुद्ध करले, वैराग्य और अभ्यास के द्वारा मन को स्थिर (एकाग्र और निरुद्ध) कर सके, अहङ्कार के आवरण को

हटा सके, वही परमात्मा को जान सकता है। ज्ञानशून्य भक्ति से परमात्मा का जानना असम्भव है।

प्रश्न—इस समय बहुत से मनुष्य कहते हैं कि अमुक परमेश्वर के पास गया, और उससे पुरुष ने यह कहा इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह किसी एक स्थान में रहता है और भक्तों से बातें भी करता है।

उत्तर—जो कोई जाता है, अपने अन्दर ही जाता है। दूसरे स्थान में जाकर देखना असम्भ है। हाँ किसी महात्मा ने स्वप्न में देखा हो तो हो सकता है। या भंग की तरंग में बातें भी की हों, वास्तव में ऐसा नहीं होता ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥

पदार्थ—(एतत्) पूर्वोक्त परमात्मा या ब्रह्मज्ञान को (श्रुत्वा) सुनकर या आचार्य्य से पढ़ कर (सम्परिगृह्य) ठीक ग्रहण करके, जान करके (मर्त्यः) मरणधर्म्मा मनुष्य (प्रवृह्य) आत्मिक बल की वृद्धि करके (धर्म्यम्) धर्मसाधक (अणुम्) सूक्ष्म (एतम्) इस परमात्मा को (आप्य) प्राप्त करके (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्ददायक को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (हि) सचमुच (मोदते) आनन्दित होता है, अन्यथा नहीं। इससे (विवृतम्) खुला है द्वार जिसका [अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये जिसे कोई रुकावट नहीं] (सद्म) स्थान, पात्र (नचिकेतसम्) नचिकेता को (मन्ये) मैं मानता हूँ, अर्थात् तुम ब्रह्म को प्राप्त करने के योग्य हो।

भावार्थ—जो मनुष्य यथोक्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर्म से, सब धर्म्मों के नियन्ता, अपने नियमों में अविचल परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वही उस आनन्द सागर को प्राप्त करके आनन्दित होता है। परमात्मा से भिन्न अन्य कोई भी आनन्दमय नहीं है। अतः उसी को प्राप्त करके ही मनुष्य आनन्दित होता है। जिसमें जो गुण न हो, उससे उस गुण का प्राप्त होना नियमविरुद्ध और असम्भव है। नचिकेतः! तू आनन्दित होने योग्य है ॥१३॥

अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

पदार्थ—(अन्यत्र) पृथक्, भिन्न (धर्म्मात्) धर्म्म से (अन्यत्र) भिन्न (अधर्म्मात्) अधर्म से (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृताकृतात्) कार्य्य कारणात्मक जगत् से (अन्यत्र) पृथक् (भूतात्) अतीत से (च) अन्यत्र पृथक् (भव्यात्) अनागत से (च) भी (यत्) उसको (पश्यसि) तू देखता है (तत्) उसको (वद) तू कह।

भावार्थ—हे आचार्य्य! जो धर्म्म अर्थात् कर्तव्य है और जो अधर्म्म अर्थात् करने योग्य नहीं है, उनसे अलग जिस तत्व को आप जानते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये। इस कार्य्य कारणात्मक प्रत्येक जगत् से [प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, और उपादान कारण के गुणों के अनुगुण ही कार्य्य द्रव्य के गुण होते हैं] और इस कार्य्य कारणस्वरूप से जो पृथक् है, जो भूत=अतीत काल, वर्तमान काल [मूल में दो बार 'च' शब्द का प्रयोग भूत और भव्य के साथ वर्तमान काल को भी सूचित करता है] और अनागत—इन तीनों कालों से पृथक् है, उस नित्य पदार्थ का मुझे उपदेश कीजिये [काल का सम्बन्ध अनित्य पदार्थों से होता है, नित्य पदार्थों में काल नहीं होता है, जिसमें किसी प्रकार का विकार, परिणाम या परिवर्त्तन नहीं होता, जिसको आप इन गुणों से सम्बद्ध समझते हैं, उसका आप उपदेश कीजिये।] वेद की श्रुति से सिद्ध है कि परमात्मा को जानकर ही शान्ति हो सकती है*। यदि जगत् का उपादान कारण आनन्दस्वरूप परमात्मा होता तो जगत् में आनन्द मिल सकता। किन्तु संसार में आनन्द मिलता नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा जगत् का उपादान

* तमेव विदित्वाति मृत्युमेति (यजुर्वेद ३१।१८) उस ही परमात्मा को जान कर मृत्यु से बचता है।

कारण नहीं है। अतः आनन्द के अभिलाषियों को उस आनन्दमय की खोज आवश्यक है। यमाचार्य्य का कहना है, परमात्मा किसी का उपादान कारण नहीं है। होता तो उसकी गणना कारण=अकृत में होती। परमात्मा को कारण से भिन्न कह कर यह सिद्ध कर दिया गया कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है ॥१४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

पदार्थ—(सर्वे) सब (वेदाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व-चारों वेद (यत्) जिस (पदम्) ब्रह्मवाचक शब्द को (आमनन्ति) बार-बार कहते हैं (तपांसि) यम नियम आदि सब प्रकार के तप (सर्वाणि) सब (च) भी (यत्) जिसको (वदन्ति) कहते हैं (यत्) जिसको (इच्छन्तः) चाहते हुए (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्य्य व्रत का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्) वह (ते) तुझे (पदम्) पद (संग्रहेण) संक्षेप से (ब्रवीमि) बतलाता हूँ (ओम्) ओम् (इति) ऐसा (एतद्) यह है। अर्थात् (ओम्) परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं—हे नचिकेतः! जिस शब्द को सारे वेद परमात्मप्राप्ति का साधन समझाने के लिये बार बार कहते हैं, जिसके जानने के लिये वेदों ने सब प्रकार के तप और साधन बतलाये हैं यथा अध्ययन काल में अनेक प्रकार का कष्टसाध्य परिश्रम, अनन्तर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये नाना प्रकार के व्रत, यज्ञादि की सामग्री संग्रह करना, निष्काम परोपकार कर्मों के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके उसको एकाग्र करने के लिये वैराग्य और अभ्यास के साधन को ठीक ठीक करना रूप अनेक तप, जिसकी कामना से ब्रह्मचर्य्याश्रम धारण किया जाता है, अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके ब्रह्म अर्थात् वेद के नियमों का पूरा-पूरा अनुसरण करते हुए वेदों की शिक्षा प्राप्त की जाती है, जिससे वह अज्ञानान्धकार का प्रतिबन्ध हटता जिसके होने से अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को नहीं जान पाते। जिस प्रकार दर्पण से ही आंख और आंख में का अञ्जन दिखाई देता है इसी प्रकार मन के दर्पण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान हो सकता है, शुद्ध मन के बिना उसको नहीं देख सकते। किन्तु अन्धकारपूर्ण रात्रि में कुछ दिखाई नहीं देता। अतः जैसे चहे दर्पण से आंख का सुरमा देखना हो या आंख से किसी अन्य वस्तु को, प्रकाश की आवश्यकता होती है ; अतः ब्रह्मज्ञान के लिये मन को भी वेदविद्या के प्रकाश की अपेक्षा है। जिसको उचित रीति से प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रम जिसके अनुष्ठान के बिना वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जिस पद के जानने के लिये ये सारे साधन बतलाये जाते हैं वह साधन संक्षेप में तुझे बताता हूँ। वह पद 'ओम्' में तीन अक्षर 'अ, उ, म्' हैं। 'अ-से परमात्मा की व्यापकता, 'उ' से प्रकाशक होना और 'म' से निश्चेष्ट प्रकृति को गति देने का ज्ञान, इसी प्रकार अन्य गुणों का ज्ञान भी 'ओम्' से हो जाता है। विशेष माण्डूक्योपनिषद् में देखिये ॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥१६॥

पदार्थ—(एतत्) यह 'ओम्' (हि) सचमुच (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) ब्रह्म, सबसे महान्, सर्वव्यापक है। (एतत्) यह (एव) ही (अक्षरम्) अक्षर (परम्) सर्वश्रेष्ठ है। (एतत्) इस (हि) ही (अक्षरम्) अक्षर=ओम् को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो मनुष्य (यत्) जो (इच्छति) चाहता है (तस्य) उसको (तत्) वह प्राप्त होता है।

भावार्थ - यमाचार्य्य उपदेश करते हैं कि हे नचिकेतः! ओम् अक्षर ही सबसे महान् और अविनाशी ब्रह्म है, यही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य, सबसे बढ़कर जानने योग्य और ज्ञान की अन्तिम काष्ठा=सीमा है। सारे साधन इसके ज्ञान के लिये ही अनुष्ठान करने आवश्यक

होते हैं। जैसे मार्ग का सब सामान उद्देश्य तक पहुँचने के लिये ही होता है, ऐसे ही शरीर, मन और इन्द्रिय यह सब पदार्थ 'ओम्' को जानने के लिये ही हैं। जैसे रसोई घर की सारी सामग्री का प्रयोजन उदरपूर्ति ही है, ऐसे ही समस्त साधनों की प्राप्ति का प्रयोजन भी परमात्म-ज्ञान ही है। जो मनुष्य इस अक्षर को जान जाता है अर्थात् जिसको परमात्मा का ज्ञान हो जाता है, उसकी जो जो इच्छा होती है, वह सब पूरी हो जाती है। 'ओम्' को जान लेने के बाद किसी पदार्थ की इच्छा का होना असम्भव-सा है, क्योंकि लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व ही मार्ग के सब सामान दृष्टिगोचर हो चुकते हैं, कोई ऐसा पदार्थ शेष नहीं रहता जिसकी कामना बनी रहे। इसी 'ओम्' अक्षर को सृष्टि के आरम्भ से ही लोग 'परम अक्षर'=प्रभु का सर्वश्रेष्ठ नाम कहते चले आये हैं। इस 'ओम्' के ज्ञान से सब प्रकार का कष्ट अपने आप नष्ट हो जाता है *। सब सुखों का मूल यही 'ओम्' है। जो लोग 'ओम्' के उपासक हैं, उनको कष्ट क्लेश शोक भय से कोई संसर्ग नहीं रहता। जिस प्रकार जहाँ सूर्य्य का प्रकाश हो, वहां किसी तरह अन्धकार नहीं हो सकता, ऐसे ही जिस किसी ने 'ओम्' को जान लिया, उसको अविद्या किसी भाँति नहीं हो सकती। जहां अविद्या नहीं, वहां दुःख कैसे हो सकता है? अविद्या से राग-द्वेष में प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति अर्थात् पुण्य पाप कर्म्मों के करने से पुण्य पाप के संस्कार होते हैं, पुण्य पाप संस्कारों से जन्म मरण होता है, जो महादुःख है। जहां अविद्या नहीं, वहाँ रागद्वेष नहीं हो सकते, जहाँ रागद्वेष नहीं, वहां प्रवृत्ति=पाप पुण्य कर्म्मों का अनुष्ठान और तज्जन्य संस्कार नहीं, जहां पाप पुण्य के संस्कार नहीं, वहाँ जन्ममरण रूप दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतः एक 'ओम्' के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानलेना सब दुखों से छूटने का उपाय है ॥१६॥

* ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (योग-दर्शन साधनपाद)

'ओम्' के ज्ञान ध्यान से आत्मसाक्षात्कार तथा विघ्नों का संहार हो जाता है।

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

पदार्थ—(एतत्) ओम् की उपासना ही (आलम्बनम्) साधन (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ, सबसे उत्तम साधन है। (एतत्) यही (आलम्बनम्) साधन (परम्) उत्कृष्ट है, परमात्म प्राप्ति का यह सबसे अच्छा साधन है। (एतत्) इस (आलम्बनम्) साधन को (ज्ञात्वा) जानकर, ज्ञानानुसार अनुष्ठान करके (ब्रह्मलोके) ब्रह्म दर्शन में (महीयते) महिमा को प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

भावार्थ—'ओम्' की उपासना ही मुक्ति का सबसे उत्तम साधन है। अन्य जितने साधन हैं वे सब ओम् की उपासना के योग्य बनने के लिये हैं। जैसे सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान से अज्ञान=अविद्या का नाश होता है, उपासना के मार्ग में अविद्या सबसे बड़ी रुकावट है। कर्म्म की भी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि निष्काम कर्म्म के बिना मन शुद्ध नहीं हो सकता और मन=अन्तःकरण की शुद्धि के बिना 'ओम्' की उपासना संभव ही नहीं। अतः अन्य जितने साधन हैं वे सब इससे पहले होते हैं। ब्रह्म को जानने के लिये यह सबसे अन्तिम साधन है, जिसने इस साधन को जानकर अनुष्ठान कर लिया है, वह ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मदर्शन के आनन्द को प्राप्त होता है ॥१७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

पदार्थ- (न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता (म्रियते) मरता (वा) अथवा (विपश्चित्) सर्वज्ञ परमात्मा (न) नहीं (अयम्) यह सर्वज्ञ परमात्मा (कुतश्चित्) किसी कारण से, (न) नहीं (बभूव) उत्पन्न

हुआ, अर्थात् इसका कारण नहीं है यह स्वभाववत् है (कश्चित्) कोई, उसकी सन्तति नहीं। (अजः) जन्म रहित (नित्यः) नित्य = विनाशरहित (शाश्वतः) अनादि (अयम्) यह (पुराणः) पुराना होता हुआ सदा नया अर्थात् सर्वदा एक रस (न) नहीं (हन्यते) मारा जाता, नष्ट होता (हन्यमाने) नाश होने वाले (शरीरे) शरीर में।

भावार्थ—यमाचार्य्य कहते हैं—हे नचिकेतः! यह जीवात्मा और परमात्मा न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं। ज्ञानस्वरूप परमात्मा और चेतन जीवात्मा अन्य नहीं है, अतः इनका कोई उपादान कारण नहीं है। जिससे इनकी उत्पत्ति मानी जाये। न ही ये किसी द्रव्य के उपादान कारण हैं। ये दोनों उत्पत्ति से रहित हैं, और स्वभाव से सत् हैं। इनमें से एक परमात्मा राजा है, अन्य जीवात्मा-प्रजा हैं। ये सदा एक रस रहते हैं। अर्थात् छः विकारों से रहित रहते हैं। छः विकार ये हैं—(१) उत्पत्ति, (२) सत्ता, (३) विपरिणाम= परिवर्त्तन = आकार परिवर्तन, (४) वृद्धि=बढ़ना, (५) अपक्षय = ह्रास = घटना और (६) विनाश। ये विकार जन्य = संयोगज और अन्य पदार्थों में होते हैं। जो कुछ उत्पन्न होता है, उस सबका एक कारण कोई न कोई कर्म = क्रिया होती है, क्रिया से दो गुण उत्पन्न होते हैं एक संयोग दूसरा विभाग। दो के मिलने में संयोग होता है. अकेले में संयोग नहीं होता। जहां संयोग ही न हुआ हो वहां विभाग भी नहीं हो सकता। संयुक्त पदार्थों में ही विभाग हो सकता है। संयोग से संयोगज पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वियोग से संयोगज पदार्थ के अवयव एक दूसरे से विघटित हो जाते हैं। किन्तु एक अखण्ड में न तो संयोग है और न विभाग। अतः उत्पत्ति और नाश शरीर का धर्म है, शरीर नाश से इसमें रहने वाले जीव और ब्रह्म का नाश नहीं होता और न शरीर की उत्पत्ति से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—जब कि जीव और ब्रह्म शरीर में रहते हैं, तब उनका शरीर से संयोग क्यों न माना जाय? और जब जीव शरीर को छोड़ता है तब उसमें विभाग भी क्यों न माना जाय?

उत्तर—यहां हम उस संयोग की चर्चा कर रहे हैं जो कर्म का परिणाम होता है। ब्रह्म सब ओर से पूर्ण काम है, उसे किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कोई कर्म नहीं करना पड़ता। अतः उसमें कर्म्मज संयोग मानना उचित नहीं है [सर्वव्यापक होने से वह सब के साथ संयुक्त है और सभी संयोग उसके आश्रय हैं, जीव का शरीर के साथ संयोग अवश्य है, किन्तु जीव और शरीर के संयोग से कोई नया पदार्थ नहीं बनता। यहां संयोग विभाग से तात्पर्य उपादान कारण में निमित्त कारण के द्वारा किये जाने वाले संयोग विभाग हैं। ब्रह्म और जीव किसी द्रव्य का उपादान कारण नहीं। अतः इनमें संयोग विभाग के न होने से उत्पत्ति आदि छः विकार भी नहीं हैं। ये विकार शरीर में ही होते हैं, ब्रह्म और जीव इन विकारों से रहित हैं। जब तक इन ब्रह्म और जीवों से अतिरिक्त कोई उपादान कारण* न हो, जिस पर इनके कर्म्म का प्रभाव हो तब तक शरीर उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—समस्त मतवादियों का तो यह मत है कि एक खुदा=परमात्मा ही स्वभावसत् है, दूसरा कोई पदार्थ स्वभाव-सत् है ही नहीं। तब संसार की उत्पत्ति खुदा=परमेश्वर के बिना कैसे हो सकती है?

उत्तर—खुदा का अर्थ है स्वभावसत्। यह शब्द 'खुद और 'आ' का संक्षिप्त रूप है। खुदा स्वभावासत्=त्रैकालिक-सत् पदार्थों में से एक है। इसका भाव यह है कि हरएक कारण खुदा अर्थात् स्वभावसत् है, क्योंकि कादाचित्क सत् [जो किसी समय हो और किसी समय न हो] तो पर-सापेक्ष होता है, परतन्त्र होता है, वह दूसरे के रचे बिना बन नहीं सकता। अतः उपादान कारण खुदा अर्थात् स्वभाव-

---

* उपादान कारण आदि की व्याख्या के लिये केनोप-निषद् की टिप्पणी देखिये।

सत्=तीनों कालों में रहने वाला है। कर्त्ता भी खुदा=स्वभाव-सत् है। प्रयोजक=कारणजीवात्मा भी, खुदा=स्वभावसत् है। सर्व कार्यों का ज्ञान रूप कारण भी खुदा=नित्य है, क्योंकि परमात्माका ज्ञान नित्य होता है। यह त्रिकालाबाधित जाति खुदा है अर्थात् संसार के सब कारण नित्य हैं। एक वचन का प्रयोग जाति और व्यक्ति दोनों के लिये होता है। जैसे— मनुष्य मरणधर्मा है। यहां 'मनुष्य' शब्द एक वचन है, किन्तु इसका अर्थ मनुष्य जातिमात्र है न कि कोई एक व्यक्ति। अतः यह चारों कारण खुदा=स्वभावसत्=तीन कालों में रहने वाले सत् पदार्थ की जाति के व्यक्ति हैं [कर्त्ता= निमित्त कारण ज्ञानस्वरूप परमात्मा है। उपादान कारण प्रकृति है। प्रयोजक कारण [जिसके लिये कार्य रचे जाते हैं] जीव है। सकल कार्यसाधनभूत ज्ञान परमात्मा का ज्ञान है।

यह नियम है कि गुणी से=द्रव्य से गुण पैदा नहीं होते और न ही गुणों से गुणी की उत्पत्ति होती है। यह सकल कार्यसाधन-भूत ज्ञान परमात्मा का गुण है। अतः ब्रह्म, जीव और प्रकृति — ये तीन अनादि तो द्रव्य है, शेष इनके धर्म्म। ईश्वर का ज्ञान गुण संसार का ज्ञानमय कारण है। भोले भाले लोगों ने 'खुदा' शब्द के साथ प्रमुख एकवचन को जो जातिपरक था, व्यक्तिपरक मानकर उसे ऐसा बना दिया, जिससे उसकी पवित्र सत्ता पर अनेक प्रकार के आक्षेप होने लगे। किसी ने उसको विकारवान् बनाया, क्योंकि यदि वह संसार का उपादान कारण है, तो किसी भी अवस्था में संयोग विभाग के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। स्वतन्त्र पर संयोग विभाग का प्रभाव नहीं होता। परतन्त्र, परवश पर होता है। यदि खुदा=परमात्मा उपादानकारण है तो अवश्य परतन्त्र है। कर्त्ता का स्वतन्त्र होना आवश्यक है†। परतन्त्रता और स्वतन्त्रता परस्पर विरुद्ध हैं, जिनका एक पदार्थ में, एक समय में होना असम्भव है। यदि कहो कि इनको दोष स्वीकार करके अपेक्षा से ले लेंगे, जैसा कि जीव कर्म्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। यह सम्भव नहीं, परमात्मा एक है और वह एकरस है‡ ॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु ँ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नाय ँ हन्ति न हन्यते ॥१९॥

पदार्थ -(हन्ता मारने वाला, गति देने वाला (चेत्) यदि (मन्यते) मानता है (हन्तुम्) मारने को अर्थात् मैं आत्मा को मार सकता हूँ (हतः) मरा हुआ (चेत्) यदि (मन्यते) मानता है (हतम्) मरा हुआ। तो (उभौ) दोनों — अपने आपको मरने और मारने वाला समझने वाले (तौ) वे (न) नहीं (विजानीतः) जानते। [अर्थात् जो लोग यह मानते हैं कि आत्मा मर सकता है या मार सकता है, वे दोनों आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते।] (न) नहीं (अयम्) यह जीवात्मा और परमात्मा (हन्ति) मारता है और (न) नहीं (हन्यते) मारा जाता है।

भावार्थ — जब कोई मनुष्य मरता है तो लोग कहते हैं इसे ईश्वर ने मार दिया अथवा अमुक ने इसकी हत्या कर दी। ऐसा विचार मूर्खों का है। क्योंकि ईश्वर अपनी कामना से कोई कार्य्य नहीं कर रहा जिससे उसे मारने वाला कहा जा सके, वह तो स्वभाव से कर्त्ता है *। जिसके जैसे जैसे कर्म्म हैं, उसको ईश्वरीय न्याय के अनुसार वैसा फल मिलता है अर्थात् जिसके कर्म मरने के हैं, वह ईश्वर के न्याय नियम के अनुसार मरेगा। जिसके कर्म अभी मृत्यु के योग्य नहीं वह नहीं मरेगा। मरना जीना तो अपने-अपने कर्म्मों का फल है। अतः ईश्वर को मारने वाला कहना अज्ञान की

† स्वतन्त्र ही कर्त्ता होता है। जैसे पाणिनि जी ने भी 'स्वतन्त्रः कर्त्ता।'

‡ तात्पर्य्य यह है कि जिस समय जीव कर्म्म कर रहा है, फल नहीं भोग रहा ; किन्तु परमात्मा सदा सृष्टि रच रहा है। अतः उसमें परतन्त्रता और स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।

* स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेताश्वतरोपनिषत्) परमात्मा की ज्ञान, शक्ति और क्रिया स्वाभाविक है।

बात है। जीव में किसी को मारने की शक्ति नहीं। अतः जीव और ब्रह्म को मारने वाला समझना अज्ञान है। आत्मा को मारने वाला समझने वाले अज्ञानी हैं। आत्मा न तो मरता है और न किसी को मारता है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों का सम्मिलित निरूपण करके अब केवल परमात्मा का वर्णन करते हैं —

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तो-
र्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

पदार्थ—(अणोः) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अधिक सूक्ष्म (महतः) महान् से भी (महीयान्) अधिक महान्, महत्तर (आत्मा) व्यापक परमात्मा (अस्य) इस (जन्तोः) प्राणी के, जीव के भीतर (निहितः) स्थित है (गुहायाम्) बुद्धि रूपी गुफा में (तम्) उसको (अक्रतुः) निष्काम कर्म्म करने वाला (पश्यति) देखता है। (वीतशोकः) हर्षशोक से रहित, वीतरागद्वेष (धातुः) सत्यासत्य के विवेक को धारण करने वाली मेधा बुद्धि की (प्रसादात्) कृपा से स्वच्छता से (महिमानम्) महत्त्व को (आत्मनः) आत्मा के * ।

भावार्थ—परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। यह नियम है कि सूक्ष्म के भीतर स्थूल के गुणों का प्रवेश नहीं हो सकता, और कि स्थूल के अन्दर सूक्ष्म के गुण आ सकते हैं। सबसे सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा में किसी के गुणों का संक्रमण नहीं हो सकता। सूक्ष्मतम होने से वह सब के अन्दर है और महान् से महान् होने के कारण सभी पदार्थ उसके भीतर हैं। अतः उसके राज्य से या उससे बाहर कोई भाग कर नहीं जा सकता। वह प्रत्येक मनुष्य के भीतर उसके संकल्पों को देख रहा है। मनुष्य अज्ञान से समझता है कि वह छिपकर पाप कर रहा है किन्तु दण्डदाता उसके भीतर रहता हुआ उसे देख रहा है। उससे हमारा कोई कर्म्म नहीं छिप सकता अतः हम मिथ्या साक्षियों या वकीलों की सहायता से उसके दण्ड से नहीं बच सकते। वह अपनी इच्छा से किसी को सुख-दुःख नहीं देता, वह तो दयालु और न्यायकारी है। उसका न्याय सब के लिये समान है। वह किसी को मित्र और शत्रु नहीं जानता। उसके राज्य में किसी प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता। वह स्वभाव से कर्म्म फल दाता है। शिफाअत या कुफ़ारा* का वहाँ कोई काम नहीं। जो लोग संसार की चिन्ताओं से स्वतन्त्र होकर मन को शुद्ध कर लेते हैं, वहीं मेधा बुद्धि के द्वारा इसके दर्शन कर सकते हैं। जिनके मन में किसी प्रकार का दोष है या जिनका चित्त सांसारिक चिन्ताओं से आक्रान्त है, उनको इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—उपनिषद् ने इसे 'अणोरणीयान्'=छोटे से अधिक छोटा कहा है तुमने इसका अर्थ सूक्ष्म से अधिक सूक्ष्म कैसे किया?

उत्तर—अणु से उपनिषत् का तात्पर्य्य सूक्ष्म है। क्योंकि जो सबसे छोटा है, वह बड़ों से बड़ा=महान् से अधिक महान् नहीं हो सकता। अतः 'वह छोटों से अधिक छोटा है' यह

* 'धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः' का अर्थ अनेक विद्वान् यह करते हैं (धातुः) परमात्मा की (प्रसादात्) कृपा से (आत्मनः+महिमानम्) आत्मा के महत्व को समझता है। जैसा कि योगदर्शन में 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमो प्यन्तरायाभावश्च' कहा है कि प्रभुके 'ओम्' नाम के जाप से आत्मा की प्राप्ति और विघ्नों का नाश होता है।

* मुसल्मान मानते हैं जो उमके नबी पर ईमान लाये, चाहे फिर वह कैसे ही कुकर्म क्यों न करता रहे, कयामत=प्रलय के दिन न्याय के समय उनके पैगम्बर उसकी सिफारिश करेंगे, और वह स्वर्ग में जायेगा। पैगम्बर की इस कृपा को शिफाअत कहते हैं। ईसाई कहते हैं कि उनके ईसा जी सब के पापों को लेकर बलिदान हो गये हैं, अतः उन पर विश्वास करने वाले को स्वर्ग मिलेगा।

अर्थ उचित नहीं, वरन् 'वह सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म है' यह अर्थ संगत है।

प्रश्न—उपनिषद् ब्रह्म को अकर्त्ता मानती है, तुम स्वभाव से कर्त्ता मानते हो।

उत्तर—उपनिषद् का तात्पर्य्य 'अकर्त्ता' कहने में 'इच्छा-पूर्वक कर्तृत्व के निषेध' में है। क्योंकि दूसरे उपनिषद् में उसे स्वाभाविक कर्त्ता कहा गया है। यदि यहां उसके कर्त्ता होने का=कर्तृत्व का खण्डन किया जाये तो युक्त नहीं है। क्योंकि परमात्मा को सभी, जगत् का उत्पन्न करने वाला धारण करने वाला और नाश करने वाला स्वीकार करते हैं।

प्रश्न—मन की शुद्धि के लिये सांसारिक चिन्ताओं से रहित होने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जीवात्मा कर्म्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है। जो लोग इस बात को समझ लेते हैं कि भोग प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, वे सदा शुभ कर्म्मों के करने में लगे रहते हैं। यदि भोग प्राप्ति की चिन्ता रहे तो संसार का उपकार नहीं हो सकता। अतः संसार के उपकार के लिये भोग की चिन्ता से छूटना आवश्यक है। भोग की चिन्ता अविद्या है। जहाँ अविद्या है, वहाँ विद्या नहीं आ सकती। जैसा कि कहा है—

परमात्मा और संसार को एक साथ चाहना व्यर्थ और पागलपन का चिह्न है ॥२०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

पदार्थ—(आसीनः) स्थित, निश्चेष्ट (दूरम्) दूर (व्रजति) जाता है [जहां कोई जाता है, वहाँ पहले ही उसे पाता है, अर्थात् गति रहित होकर भी गति वालों से मानो अधिक गति वाला है] (शयानः) स्वप्नावस्था में तमोगुण के आचरण से तिरोहित (याति) जाता है, [मन की गति से, शरीर के अन्दर स्थित हुआ भी गतिमान् प्रतीत होता है] (सर्वतः) सब स्थानों में (कः) कौन (तम्) उस (मदामदम्) अपने आनन्द से पूर्ण, विषयों से रहित (देवम्) प्रकाशस्वरूप को (मदन्यः) मेरे विना (ज्ञातुम्+अर्हति) जान सकता है।

भावार्थ—अब यमाचार्य्य नचिकेता के हृदय में श्रद्धा को दृढ़ करने के विचार से, ताकि वह उसकी शिक्षा से लाभ प्राप्त कर सके, कहते हैं। हे नचिकेतः! यद्यपि परमात्मा गतिशून्य है, गति उस वस्तु में होती है जो एक स्थान पर हो और दूसरे में न हो, परमात्मा तो सदा ही सर्वत्र विद्यमान है, अतः वह कहां और कैसे गति करे, तो भी वह इतना महान् है कि कहीं चले जाओ वह आप को वहां पहले से विद्यमान मिलेगा। और जिसकी व्यवस्था से स्वप्नदशा में तमोगुण के कारण आवरण में आने के कारण, शरीर के अन्दर रहता हुआ यह जीवात्मा सब जगह जाता प्रतीत होता है जो अपने आनन्द से परिपूर्ण है, संसार के विषयों को नहीं भोगता, आनन्दपरिपूर्ण और सुख भोगलिप्सारहित उस परमात्मा को मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है। तात्पर्य्य यह है कि मैंने परमात्मा को जान लिया है।

प्रश्न—केनोपनिषत् में तो यह सिद्ध किया गया है कि जो कहता है मैं परमात्मा को जानता हूँ, वह नहीं जानता; और जो कहता है कि मैं नहीं जानता, वह जान सकता है। यमाचार्य्य ने उसके विपरीत कह कर अभिमान क्यों किया ?

उत्तर—यमाचार्य्य ने अभिमान नहीं किया, वरन् नचिकेता की श्रद्धा दृढ़ करने के लिये कहा कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ ॥२१॥

अशरीरꣳशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

पदार्थ—(अशरीरम्) स्थूल सूक्ष्म शरीर रहित परमात्मा (शरीरेषु) प्रत्येक शरीर में (अनवस्थेषु) स्थिर न रहने वाले (अवस्थितम्) अवस्थित है, स्थिर है अर्थात् शरीर नाश से उसका नाश नहीं होता (महान्तम्) सबसे महान्

(विभुम्) विभु=व्यापक [जिसका प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य के साथ संयोग है अर्थात् जिससे कोई वस्तु दूर नहीं] , आत्मानम्) सर्वव्यापक परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) ध्याना-भ्यासी, धैर्य्यवान् (न) नहीं (शोचति) शोक करता है, फिर दुःख को प्राप्त करता है।

भावार्थ—यद्यपि परमात्मा का कोई शरीर नहीं है अर्थात् न उसका सूक्ष्म शरीर है और न स्थूल, तथापि वह प्रत्येक शरीर में रहता है। यद्यपि वह गतिवान् जगत् के अन्दर रहता है तथापि वह गतिरहित है। उसके महत्व की सीमा नहीं है, वरन् वह सबसे महान् है। संसार का कोई पदार्थ नहीं, जो उससे बाहर हो। वह हर एक के अन्दर बाहर विद्यमान है! अन्दर होने के कारण, हम किसी कर्म्म को उससे छिपा कर नहीं कर सकते ; और बाहर सर्वत्र होने से उसके राज्य से भाग कर कहीं जा नहीं सकते। जब तक हमें इस तत्व का ज्ञान नहीं होता तभी तक हम पापकर्म करते हैं। जहां इसका ज्ञान हुआ कि पाप करने का सामर्थ्य ही नहीं रहता। जीव को पाप से स्वाभाविक भय लगता है। ज्यां ही पाप का विचार आता है, त्यों ही भीतर से भय, शङ्का और लज्जा आ घेरते हैं। भला जो मनुष्य पुलिस के एक सिपाही की उपस्थिति में अपराध करने से डरता है, वह दण्डदाता के सर्वत्र विद्यमान होने का ज्ञान होने पर कैसे पाप कर सकता है। मनुष्य जानता है कि पुलिस के सिपाही को रिश्वत देकर उससे बचा जा सकता है, झूठे गवाहों के सहारे से बचने की आशा हो सकती है, वकीलों की सहायता से राजनियम के दण्ड से बचने की संभावना हो सकती है। इतनी आशा के होते भी जब मनुष्य पुलिस की उपस्थिति में अपराध का साहस नहीं करता, तब यदि उसे पूर्ण निश्चय हो कि सर्वव्यापक परमात्मा अवश्य दण्ड देगा, उसको रिश्वत देकर भी अनुकूल नहीं किया जा सकता, चालाक से चालाक वकील भी कानून की लपेट से नहीं बचा सकता तब मनुष्य कैसे पाप कर सकता है? जब पाप न करे तो शोक अर्थात् चिन्ता और भय किस प्रकार हो सकते हैं ॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥

पदार्थ—(न) नहीं (अयम्) यह (आत्मा) सारे संसार में व्यापक परमात्मा (प्रवचनेन) उपदेश करने से (लभ्यः) मिल सकता है (न) नहीं (मेधया) बुद्धि से (न) नहीं (बहुना) बहुत (श्रुतेन) सुनने से, पढ़ने से। (यम्) जिसको (एषः) यह आत्मा (वृणुते) चुनता है (तेन) उस को (लभ्यः) मिल सकता है। (तस्य) उसको (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (विवृणुते) प्रकट कर देता है (तनूम्) विस्तार को (स्वाम्) अपने।

भावार्थ—परमात्मा बहुत व्याख्यान करने और व्यवस्थायें देने से नहीं मिल सकता, न ही वह केवल बुद्धि से जाना जा सकता है और न ही बहुत से ग्रन्थों के पढ़ने या गुरु से सुनने से इसको कोई जान सकता है। जिसको अधिकारी जानकर परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश देता है, उसी को ज्ञान हो सकता है। अर्थात् ब्रह्मश्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश से ब्रह्मज्ञान हो सकता है। जो लक्ष्य पर पहुँच चुका है, वह आप्त कहलाता है, यदि उसके कहे के अनुसार आचरण किया जाये तो परमात्मा का प्रकाश प्रकट होता है। जब तक परमात्मा अपने स्वरूप का प्रकाश न करे, तब तक कोई उसको नहीं देख सकता। जैसे सूर्य्य जब तक अपने स्वरूप का प्रकाश नहीं करता, तब तक आंख उसको दूसरे की सहायता से भी नहीं देख सकती। ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा को परमात्मा की सहायता से ही देख सकता है। दूसरे की सहायता से उसका जानना असम्भव है ॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

पदार्थ—(न) नहीं (अविरतः) न हटा हुआ (दुश्चरि-

तात्) दुराचार से, पाप कर्मों से, (न) नहीं (अशान्तः) अशान्त (न) नहीं (असमाहितः) असावधान अथवा जिसकी शंकाओं का समाधान नहीं हुआ, ऐसा संशयात्मा (न) नहीं (अशान्तमानसः) चंचल चित्त वाला (वा) या (अपि) भी (प्रज्ञानेन) लौकिक ज्ञान के द्वारा (एनम्) इसको (आप्नुयात्) पा सकता है।

भावार्थ—जिसका मन दुराचार में लीन हो अर्थात् जिसके मन में ज्ञान का प्रकाश ठीक-ठीक न पड़ता हो, जिसके भीतर शान्ति न हो, जो चिन्ता से अत्यन्त व्याकुल हो, जिसको निश्चयात्मक ज्ञान न हो, बात-बात में जिसे सन्देह होता हो, शंका के मारे जो एक पग भी न उठा सके, जिसका मन ऐसा चंचल हो कि एक क्षण भी स्थिर न हो; ऐसा मनुष्य बहुत कहने-सुनने से, लौकिक ज्ञान के द्वारा परमात्मा को नहीं जान सकता। परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण स्वच्छ, स्थिर और निरावरण होना चाहिये। कोई भीरू, स्वार्थी, झूठा, दुराचारी मनुष्य परमात्मज्ञान का अधिकारी नहीं है। न ही परमात्मा अहंकारियों को दिखाई दे सकते हैं, जिसके मन में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं, वह किसी अवस्था में कर्म नहीं कर सकता। यदि किसान को शक हो कि खेत बोने योग्य है या नहीं, तो उस खेत में वह कभी बीज नहीं बोता। कोई भी मनुष्य संदिग्ध ज्ञान की दशा में कोई कर्म्म नहीं करता। अतः जब तक ब्रह्मज्ञान के मार्ग में जो रुकावटें हैं वे दूर न हो जायें, तब तक मनुष्य ब्रह्म को नहीं जान सकता। किसी अत्यन्त समीपवर्त्ती पदार्थ के देखने के लिये पाँच प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है—प्रथम दर्पण, द्वितीय प्रकाश, तृतीय दर्पण की स्वच्छता, चतुर्थ दर्पण की स्थिरता, पञ्चम उस वस्तु और दर्पण के बीच में किसी प्रकार का आवरण का न होना। इस प्रकार ब्रह्मदर्शन के लिये—मनरूपी दर्पण, वेदज्ञान, अन्तःकरण या मन की शुद्धि, मन की निश्चलता और उस पर अज्ञान रूप आवरण का न होना अपेक्षित है। चारों आश्रमों को विधिपूर्वक करने से अथवा वैराग्य अभ्यासादि साधनों के द्वारा यह रुकावट दूर होकर ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥२४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

पदार्थ—(यस्य) जिस परमात्मा का (ब्रह्म) ब्राह्मण अर्थात् ज्ञान (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय अर्थात् बल (च) भी (उभे) दोनों (भवतः) होते हैं (ओदनम्) भात; (मृत्युः) शरीर और आत्मा का वियोग (यस्य) जिसका (उपसेचनम्) व्यंजन, भात में डालने योग्य घृत आदि। (कः) कौन (इत्था) इस भांति (वेद) जानता है (यत्र) जहां (स) वह है।

भावार्थ—जो परमात्मा प्रलय के समय बल और ज्ञान अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण को अपने अन्दर कर लेता है। ब्राह्मण उसके दिये वेदज्ञान से महत्त्व प्राप्त करते हैं। वेद परमात्मा का ज्ञान है, वह तो उसी के भीतर ही प्रविष्ट होगा। जब वेद परमात्मा के भीतर चला गया, तब ब्राह्मण कोई कैसे रहा? क्षत्रियों में जो बल है, वह परमात्मा की देन है। जब परमात्मा ने अपने बल को बाहर जाने ही न दिया, तो क्षत्रिय कैसे हो सकते हैं? मृत्यु ही इनको परमात्मा के भीतर प्रवेश करा रही है। मृत्यु प्रत्येक ब्राह्मण क्षत्रिय का नाश करके विद्या और बल को परमात्मा के अन्दर प्रवेश करा रही है।

किस स्थान पर परमात्मा है? कौन जान सकता है कि परमात्मा कहां है? 'कहां' का प्रयोग तो परिछिन्न के लिये होता है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है। उसके सम्बन्ध में 'कहां' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। परमात्मा के सर्वत्र होने से यह जानना कि वह कहां है, बहुत ही कठिन है।

॥ कठोपनिषत् की द्वितीया वल्ली समाप्त ॥

अथ कठोपनिषत् तृतीय वल्ली प्रारंभ

ऋतंपिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

पदार्थ—(ऋतम्) ऋत=तत्वज्ञान [जो पदार्थ जैसा हो, उसे वैसा जानना ऋत = तत्वज्ञान कहलाता है] (पिबन्तौ) भोगते भोगवाते हुए जीवात्मा तथा परमात्मा (सुकृतस्य) शुभ कर्म का [जीवात्मा अपने किये कर्म का फल भोगता है और परमात्मा फल भोगवाता है] (लोके) इस देह में (गुहाम्) बुद्धि के भीतर (प्रविष्टौ) प्रविष्ट हुए (परमे) परम, श्रेष्ठ (परार्द्धे) हृदयाकाश में (छायातपौ) छाया और आतप की भांति [अल्पज्ञ जीव को छाया से उपमा दी है, और सर्वज्ञ ब्रह्म को आतप से] (ब्रह्म विदः) ब्रह्मवेत्ता = वेदवेत्ता (वदन्ति) बतलाते हैं (पंचाग्नयः) पंचाग्नि-विद्या के विद्वान्, पांचों इन्द्रियों के विषयों से रहित महात्मा वानप्रस्थ (ये) जो (च) और (त्रिणाचिकेतः) जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन किया है ऐसे गृहस्थ ।

भावार्थ—गृहस्थ और वानप्रस्थ, जिन्होंने पाँचों इन्द्रियों को वश में किया है या कर्म्मकाण्ड के लिये तीन अग्नियों का चयन किया है, कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं। वे स्वकर्म फलभोक्ता जीव को, जब वह बुद्धि में प्रविष्ट होकर मन की वृत्तियों को अन्तर्मुख करता है, अर्थात् बाह्य विषयों से बेसुध हो जाता है, तब समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति की दशा में शरीर में सर्वश्रेष्ठ स्थान हृदयाकाश में ब्रह्म को जानते हैं। जीव छाया समान है, ब्रह्म धूप समान है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है। जीव-ब्रह्म में देशकृत या कालकृत दूरी नहीं है। ब्रह्म की खोज में किसी दूर देश में जाने की आवश्यकता नहीं है, केवल मन की वृत्तियों को बाहर से हटाकर भीतर ले जाने की आवश्यकता है। इस दृश्य को कि बहिर्मुख होने अर्थात् प्रकृति की उपासना से दुःख और अन्तर्मुख होने अर्थात् परमात्मा की उपासना से सुख मिलता है, जाग्रत तथा सुषुप्ति की दशा में दिखाकर परमात्मा हम को प्रतिदिन उपदेश करते हैं। यह सबको प्रत्यक्ष है कि जागने पर सब दुःख भाग जाते हैं। इसको देखकर भी यदि कोई न समझे तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥२॥

पदार्थ—(यः) जो (सेतुः) सेतु=पुल (ईजानानाम्) यज्ञ करने वालों का (अक्षरम्) नाश रहित (ब्रह्म) परमात्मा (यत्) जो (परम्) सबसे सूक्ष्म और सबसे बड़ा है (अभयम्) भयरहित (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा रखने वाले विद्वानों का (पारम्) पार, दूसरा तीर (नाचिकेतम्) नाचिकेत को (शकेमहि) हम कर सकें, जान सकें।

भावार्थ—यज्ञ करने वाले मनुष्यों को इस भवसागर से पार उतारने के लिये पुल के समान जो परमात्मा है, जो नाशरहित और सबसे महान् है, जो हमें इस भयपूर्ण भवसागर से पार करने में समर्थ है, जो चेतनस्वरूप है, उस सर्वज्ञ के विधान के विरुद्ध जो मनुष्य कार्य्य करता है, वह कभी सुख नहीं पा सकता। समस्त संसार को धोखा दिया जा सकता है, किन्तु परमात्मा को कोई भी धोखा नहीं दे सकता ; वह प्रत्येक वस्तु के अन्दर व्यापक होने से प्रत्येक की चेष्टा का स्वयं साक्षात्कार कर रहा है, अतः उसे किसी साक्षी की अपेक्षा नहीं है। जब उसने स्वयं साक्षात् कर लिया, तो अन्य साक्षियों का क्या उपयोग ? अतः भयपूर्ण भवसागर से

पार उतरने के लिये, परमात्मा के आदेशानुसार दूसरों को सुख पहुँचाने वाले यज्ञ करने चाहिये ॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

पदार्थ—(आत्मानम्) आत्मा को या अपने आपको (रथिनम्) रथारुढ = रथ पर सवार (विद्धि) समझ (शरीरम्) शरीर को (रथम्) रथ (एव) ही (तु) तो (बुद्धिम्) बुद्धि को (तु) तो (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (मनः) मन को (प्रग्रहम्) लगाम (एव) ही (च) और।

भावार्थ—यह शरीर एक रथ है जिस पर बैठकर जीवात्मारूपी सवार अपने लक्ष्य-ओम् प्राप्ति की सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है, रथ तो सारथि=कोचवान् के बिना चल नहीं सकता। इस शरीररूपी रथ का सारथि बुद्धि है। जिस रथ का सारथि चतुर हो, वह रथ उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। जिस गाड़ी का सारथि शराबी हो, उस गाड़ी के गढ़े में गिरने की पूरी संभावना रहती है। इसी भाँति जिस मनुष्य की बुद्धि विमल है, वह मनुष्य जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सकता है। जिसकी बुद्धि भ्रष्ट है, वह बार बार नीच योनियों में जन्म लेता है और अविद्या में फँसकर बुराई को भलाई और भलाई को बुराई समझता हुआ इस जन्म को अकारथ कर देता है। जैसे गाड़ी के घोड़ों या यन्त्रों की कलों को वश में रखने के लिये, घोड़े के मुख में लगाम, या यन्त्र में ब्रेक की आवश्यकता होती है; ऐसे ही इस शरीर-रथ के सारथि बुद्धि के पास मन रूप प्रग्रह=लगाम या ब्रेक है। यदि मन बुद्धि के वश में रहता है तो सब कार्य्य ठीक चलता है। यदि मन बिगड़ जाता है, और बुद्धि के वश से बाहर हो जाता है तो समस्त दोष आ घेरते हैं। इस रूपक में यह सिद्ध किया गया है कि जब मनुष्य का मन और बुद्धि संयत हों तभी वह सफलता प्राप्त कर सकता है। यदि मन में दोष हैं अर्थात् मन मलिन है या चंचल है, तो शरीर-रथ किसी प्रकार भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। यदि बुद्धि-सारथि के पास विद्या-प्रकाश नहीं है, तो वह इसे कुमार्ग में डाल कर नष्ट कर देता है ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

पदार्थ—(इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां और पाँच कर्म्मेन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं। (विषयान्) इन्द्रियों के विषयों को (तेषु) इनके (गोचरान्) मार्ग [जिनमें घोड़ों द्वारा रथ चलते हैं] आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) मन और इन्द्रियों से युक्त आत्मा को (भोक्ता+इति) भोक्ता, भोगने वाला (आहुः) कहते हैं (मनीषिणः) मन को शुद्ध करके वश में रखने वाले।

भावार्थ—जब शरीर को गाड़ी, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम बतलाया, तो प्रश्न होता है कि घोड़े कौन हैं जिन्हें चलाने के लिए सारथि तथा लगामों की आवश्यकता है। उसके उत्तर में कहते हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वचा, और पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ—हाथ, पांव, जिह्वा, मलेन्द्रिय तथा मूत्रेन्द्रिय, यह दश इन्द्रियां शरीर रूपी रथ में सवार जीव को ज्ञान और कर्म्म के मार्ग में ले जाती हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, वह इनके मार्ग हैं। आत्मा का जब मन और इन्द्रियों से संयोग होता है, तब ज्ञानी जन आत्मा को भोक्ता कहते हैं। यदि मनुष्य इस रूपक को ठीक ठीक समझ ले, तो वह संसार में भ्रमग्रस्त नहीं हो सकता। जब यह निश्चय हो गया कि शरीर गाड़ी है और आत्मा गाड़ी में बैठ कर लक्ष्य की ओर जाने वाला है, तब यदि मनुष्य को यह ज्ञान न हो कि इस रथ में बैठ कर उसे कहाँ जाना है तो ऐसे मनुष्य को कौन बुद्धिमान् मानेगा। यदि रथ लक्ष्य की ओर चल रहा है, तो उन्नति हो रही है। यदि लक्ष्य से विपरीत दिशा की ओर रथ की गति है तो प्रतिक्षण लक्ष्य के अधिक दूर होते जाने से अवनति हो रही है। जिसे लक्ष्य का ही ज्ञान नहीं, उसे उन्नति या अवनति का बोध कैसे हो सकता है ?

सभी जानते हैं कि गाड़ी को अपना बतलाने वाले दो होते हैं, एक रईस=रथ का स्वामी, दूसरा साईस=सारथि। एक रथ स्वामी के पाँच रथ हैं, प्रत्येक रथ का सारथि उस रथ को अपना बतलाता है, रथ स्वामी अपना बतलाता है। यदि सारथि=रथवान् से पूछा जाये, रथ से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? तुम रथ क्यों रखते हो ? वह कहता है कि मेरा सम्बन्ध रथ से इतना है कि गाड़ी खूब साफ सुथरी रखी जाये घोड़ों को अच्छी तरह खिला पिला कर पुष्ट रखा जाये। ऐसे ही यदि शरीर-रथ के कोचवानों से पूछा जाये तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है तो वे स्पष्ट उत्तर देंगे कि 'खाना, पीना तथा आनन्द करना' परलोक की परमात्मा जाने। इस समय तो जीवन चैन से बीतता है। इन्द्रियों के विषय खूब भोगना, अर्थात् घोड़ों को खूब चराना, शरीर को उत्तमता से सजाना अर्थात् गाड़ी को धोना, सुथरा रखना। ऐसे लोग शरीर-रथ को अपने लिये नहीं समझते, वरन् अपने-आप को शरीर-रथ के लिये समझते हैं। जो जन रात-दिन तन के लिये ही यत्न करते हैं, वे इस शरीर-रथ के साईस=कोचवान हैं। यदि रथ-स्वामी से प्रश्न किया जाये कि तुम्हारा रथ से क्या सम्बन्ध है ? वह उत्तर देता है, 'मैं गाड़ी में बैठकर ग्राम को जाता हूँ, कचहरी को जाता हूँ इत्यादि।' वह अपने-आपको रथ के लिये नहीं समझता, वरन् रथ को अपने लिये समझता है। जो शरीर को अपने लक्ष्य प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे कोचवान् है। जिस देश में कोचवानों की संख्या अधिक हो, वह पतित है। जिस देश में रथ-स्वामियों की संख्या अधिक हो वही उन्नत देश है।

प्रश्न—आजकल तो वही देश सभ्य माना जाता है, जिसमें 'खाओ, पियो, करो आनन्द' के विचारवाले मनुष्य अधिक हों।

उत्तर—आज लोग अज्ञानी अधिक हैं, उन्हें न अपने स्वरूप का ज्ञान है, न लक्ष्य का। वे पशुओं की भांति केवल प्रत्यक्ष जगत् को ही सब कुछ मानते हैं। जैसे विवाहेच्छुक लोगों ने पंजाब में नाई का नाम राजा रख दिया है, ऐसे ही मूर्खों ने भोगपरायण देशों को सभ्य मान लिया है। वास्तव में वे कोचवानों के देश हैं।

प्रश्न—कोचवान कभी भी रथ-स्वामी पर प्रभुत्व नहीं सकता, किन्तु हम देखते हैं ऐसे देश सारे संसार पर प्रभुत्व रखे हुए हैं।

उत्तर—कोचवान मनुष्य होता है, जो घोड़ों पर प्रभुत्व रखता है। ऐसे लोग जो धर्म्म मर्म से सर्वथा शून्य हैं, वे तो पशुप्राय हैं, उन पर कोचवानों का प्रभुत्व होना ही है। इस समय कोई ऐसा देश नहीं, जिसमें निरे रथ-स्वामी ही रथ-स्वामी हों। प्रत्येक देश में ऐसे मनुष्यों की संख्या जो शरीर का परम प्रयोजन [प्रयोजक कारण] जानते हों, थोड़ी है ॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

पदार्थ—(यः) जो (तु) तो (अविज्ञानवान्) विवेकशून्य मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में फँसा हुआ (भवति) होता है (अयुक्तेन) बुद्धि विरोधी (मनसा) मन से (सदा) सदा। (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (अवश्यानि) अवश [अर्थात् बुद्धि के नियन्त्रण से बाहर] (दुष्टाश्वाः+इव) दुष्ट घोड़ों की भांति (सारथेः) सारथि के। [जैसे दुष्ट घोड़े कोचवान् के वश में न रहकर रथ को सड़क से नीचे गिरा देते हैं, ऐसे वश से बहिर्भूत इन्द्रियां मनुष्य की बुद्धि को बिगाड़ कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य विवेकशून्य होता है, जिसका मन सदा बुद्धि से स्वतन्त्र होता है, कभी स्थिर नहीं होता, सदा अनियमित चलता है, वह मनुष्य लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे लगाम के ढीला करने से दुष्ट अश्व रथ-स्वामी को रथ से नीचे गिरा देते हैं, लक्ष्य पर नहीं पहुँचाते ; ऐसे ही जो मन बुद्धि के वश में नहीं है, वह मन सदा अनियमित चलता है। जिसका मन नियम में न चले, उसकी इन्द्रियां ठीक मार्ग पर न चलकर, उसको विषयों में फँसा कर, विषयों के गर्त (गढ़े) में गिरा देती हैं। अतः सबसे आवश्यक कार्य्य कोचवान्=बुद्धि को सुधारना है। बुद्धि शुद्ध

हो तो थोड़े से परिश्रम से भी सफलता प्राप्त हो सकती है और यदि बुद्धि विकृत है, दूषित है, तो कोई कार्य्य भी मर्य्यादा से नहीं हो सकता।

प्रश्न क्या सबकी बुद्धि एक जैसी है या भिन्न-भिन्न भांति की।

उत्तर—बुद्धि दो प्रकार की होती है—एक स्वाभाविक (नैसर्गिक) बुद्धि और दूसरी नैमित्तिक बुद्धि। नैसर्गिक बुद्धि तो सभी मनुष्यों की एक-सी होती है, किन्तु नैमित्तिक बुद्धि सबकी भिन्न-भिन्न होती है।

प्रश्न- नैमित्तिक बुद्धि के भिन्न-भिन्न होने का क्या कारण है?

उत्तर—मन का तीन प्रकार का होना नैमित्तिक बुद्धि की विभिन्नता का कारण है। सत्त्वगुणी मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह अन्य प्रकार का होता है; और जो ज्ञान रजोगुणी मन से होता है, वह दूसरे प्रकार का होता है; तमोगुणी मन के द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान इन दोनों से भिन्न प्रकार का होता है।

प्रश्न—मन में गुणों का जो भेद है, उसका क्या कारण है?

उत्तर—पूर्व जन्म के संस्कार और वर्त्तमान जन्म की संगति। मनुष्य के जिस प्रकार के संस्कार होते हैं, प्रायः वैसी ही संगति उसे पसन्द आती है। जैसी संगति मनुष्य करता है, वैसे कर्म्म वह करता है। [जैसे कर्म करता है, वैसे संस्कार बनते हैं।]

प्रश्न – बुद्धि को किस प्रकार ठीक रख सकते हैं?

उत्तर—बुद्धि आत्मिक नेत्र है, इसको आत्मिक सूर्य्य अर्थात् वेदविद्या, के सहयोग से शुद्ध और समर्थ रखा जा सकता है? जैसे भौतिक नेत्र को सूर्य्य के रहते रज्जू में सर्प की भ्रान्ति नहीं होती और भ्रान्ति न होने से सर्प का भय नहीं होता। यदि कुछ प्रकाश हो और कुछ अन्धकार, तो भ्रम होकर भय होता है। इसी प्रकार पूर्ण विद्या न होकर थोड़ा विद्या-प्रकाश हो तो भ्रान्ति हो सकती है जो सकल क्लेशों का मूल है ॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

पदार्थ—(यः) जो (तु) तो (विज्ञानवान् निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान वाला (भवति) होता है (युक्तेन) स्थिर अथवा संयुक्त या संगत (मनसा) मन से (सदा) सदा। (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (वश्यानि) वश में होती हैं (सदश्वाः+इव) सधे घोड़ों की भाँति (सारथेः) सारथि के [अर्थात् जैसे सधे घोड़े रथ को तथा रथी को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देते हैं, ऐसे बुद्धिमान् मनुष्य की इन्द्रियां उसके वश में रहती हैं और जीव को लक्ष्य पर पहुँचा देती हैं।]

भावार्थ—जिसका मन बुद्धि का सहकारी हो, जो सदा प्रत्येक कार्य विचार कर करता हो, जो कोई भी कार्य्य मूर्खता का न करता हो उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं और सधे घोड़े की भाँति उसे लक्ष्य पर पहुँचा दिया करती हैं। इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि यदि मन बुद्धि के अनुसार चले, और इन्द्रियाँ तो होती ही मन के अधीन हैं, तो इन्द्रियाँ मित्र का कार्य्य करती हैं। यदि इन्द्रियाँ वश में न रहें तो यही इन्द्रियाँ मनुष्य की भयंकर शत्रु बन जाती हैं। विद्या के विना, बुद्धि मन को वश में नहीं रख सकती, जैसे आँख बाह्य प्रकाश की सहायता के विना देख नहीं सकती। ऐसे ही मार्ग देखे विना लगाम को ठीक पकड़ रखना असम्भव है, लगाम के ठीक रखे विना घोड़ों को ठीक चलाना सम्भव नहीं। अर्थात् मनुष्य के वैरी मनुष्य के साथ ही रहते हैं। इन शत्रुओं से त्राण पाने के लिये विज्ञान=विद्या एक साधन है। जो लोग विद्या की उपेक्षा करते हैं, वे सन्तान के लिये कितनी ही सम्पत्ति क्यों न छोड़ जायें, वे सन्तान के शत्रु या मूर्ख मित्र कहलाने के अधिकारी हैं ॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥

पदार्थ (यः) जो मनुष्य (तु) किन्तु (अविज्ञानवान्) नैमित्तिक ज्ञान से, जो इन्द्रियों तथा विद्याभ्यास के द्वारा प्राप्त होता है, रहित (भवति) होता है (अमनस्कः) विज्ञानशून्य मन वाला अर्थात् विचारशक्ति शून्य (सदा) सदा (अशुचिः) अपवित्र (न) नहीं (सः) वह मनुष्य (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त करता है (संसारम्) संसार=पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर को (च) और (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिस मनुष्य ने वेद विद्या प्राप्त नहीं की; जिसके मन में विचारशक्ति नहीं है, जो सब कार्य्य विचारे विना, विवेकशून्य होकर करता है, जिसका मन सदा दूसरों के धन, दारा तथा अन्य पदार्थों के हरण करने की भावना से मलिन रहता है, जिस को आत्मा और मन अथवा आत्मा और शरीर का भेदज्ञान नहीं है, जो सदा ही अपवित्र रहता है, वह किसी भी अवस्था में आत्मज्ञान की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता, सदा जन्मता और मरता रहता है।

प्रश्न क्या कारण है कि अज्ञानी जीव पुनः पुनः जन्म लेता है ?

उत्तर—जीव के अतिरिक्त दो पदार्थ और हैं, एक प्रकृति दूसरा परमात्मा। प्रकृति सत्=सदा रहने वाली है। जीव सत् तथा चित्=चेतन=ज्ञानवान् है। परमात्मा सत्, चित्, आनन्द=आनन्द वाला [सच्चिदानन्द] है। प्रकृति के सम्बन्ध से जीव को बन्धन होता है, क्योंकि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं तथा जीवात्मा से न्यून गुणों वाली है। न्यून गुण वाले की सङ्गति से सदा हानि ही होती है। परमात्मा सच्चिदानन्द है, उसके संसर्ग से जीव को लाभ होता है। जब दो प्रकार के पदार्थ हों एक लाभदायक और दूसरे हानिकारक, तब उस दशा में विवेक भले-बुरे की पहचान के विना कार्य कैसे चल सकता है। जिस बाजार में सुवर्ण शुद्ध ही बिकता हो, वहां तो पहचान=परख के बिना भी कार्य्य चल सकता है; किन्तु जहां शुद्ध सोना तथा खोटा दोनों बिकते हों, वहां विवेक न होने से मनुष्य से भूल हो जाने की सम्भावना है। इस संसार में एक ओर शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा है, दूसरी ओर ज्ञान और आनन्द से शून्य, किन्तु बाह्य चमक-दमक वाली प्रकृति है। विवेक के बिना, हिताहित के ज्ञान विना भ्रान्ति होना सम्भव है। भ्रान्ति में पड़कर प्रकृति की उपासना में फंस कर बार-बार जन्म लेना पड़ता है। अतः आनन्द के अभिलाषियों को वेदविद्या का प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। वेदज्ञान के बिना आनन्द की स्थिति प्राप्त ही नहीं हो सकती ॥७॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥

पदार्थ—(यः) जो मनुष्य (तु (किन्तु (विज्ञानवान्) नैमित्तिक ज्ञान अर्थात् वेदविद्या से युक्त (भवति) होता है (समनस्कः) जिसका प्रत्येक कार्य्य विचार के अनुसार होता है (सदा) सदा (शुचिः) पवित्र अर्थात् जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को शुद्ध, पवित्र रखता है (सः) वह मनुष्य (तु) तो (तत्) उस (पदम्) पद को (आप्नोति) प्राप्त करता है (यस्मात्) जिससे (भूयः) बहुत देर दोबारा (न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य वेदज्ञान के द्वारा विवेक प्राप्त करके मन, इन्द्रिय और शरीर को सदा शुद्ध रखता है। शरीर को जल से शुद्ध रखता है; मन को सत्य बोलने, सत्याचरण और सत्य मनन के द्वारा पवित्र रखता है; विद्या और तप के द्वारा जीवात्मा को शुद्ध रखता है और बुद्धि को वेद ज्ञान से शुद्ध रखता है तथा प्रत्येक कार्य्य धर्म्म के अनुसार अर्थात् सत्य-असत्य को विचार कर करता है, वह ऐसी स्थिति को = पद को प्राप्त करता है, जहां बहुत देर तक दोबारा उत्पन्न नहीं होता। बहुत से लोग इसका अर्थ यह लेते हैं कि वह फिर नहीं उत्पन्न होता; किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं

है, क्योंकि ऐसी स्थिति असम्भव है, जिसका एक किनारा अर्थात् आरम्भ तो हो, किन्तु दूसरा किनारा अर्थात् अन्त न हो।

प्रश्न—समस्त मत ऐसी मुक्ति मानते हैं, वह असम्भव कैसे हो सकती है ?

उत्तर—किसी के अन्यथा मानने से किसी वस्तु का तत्त्व अन्यथा नहीं हो सकता। लक्षण भेद से दूसरी वस्तु मानी जायेगी। यदि इस प्रकार की अर्थात् सादिअनन्त मुक्ति संभव हो, तो धन्य है। किन्तु कोई विद्वान् इसे संभव सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि इसके लिये न कोई हेतु और न कोई दृष्टान्त है जिसके सहारे ऐसी मुक्ति का अनुमान किया जा सके। जीव ही जब प्रत्यक्ष नहीं तो मुक्ति कैसे प्रत्यक्ष हो सकती है ?

प्रश्न—यह कोई नियम नहीं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से ही किसी की सत्ता सिद्ध हो, अन्य प्रमाण भी तो हैं।

उत्तर—शब्द प्रमाण को आप्त वाक्य सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष और अनुमान की आवश्यकता होती है। यदि वह आप्तवाक्य सिद्ध न हो तो वह प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता*।

---

* भाष्यकार स्वामीजी के मन में यह है कि उपमान प्रमाण तो मुक्ति में उपयोगी नहीं है। शब्द प्रमाण ही शेष रह जाता है। शब्द प्रमाण यदि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के विरुद्ध हो तो वह प्रमाण ही नहीं माना जा सकता।

जैसे कोई कहे कि आग ठंडी है या गरम। ऐसे मनुष्य के हाथ पर अंगारा रख दो, ज्ञात हो जायेगा कि आग ठंडी है या गरम। ऐसे प्रत्यक्षविरुद्ध वचन का कहने वाला आप्त नहीं वरन् प्रमत्त है। अनुमान के लिये हेतु दृष्टान्त चाहिये, मुक्ति को सादिअनन्त सिद्ध करने के लिये न कोई हेतु है और न किसी भावपदार्थ को दृष्टान्त में प्रस्तुत किया जा सकता है। वेदादि शास्त्रों में प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध एक भी उपदेश नहीं है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सादि अनन्तमुक्ति वेदशास्त्र विरुद्ध कोरी कपोल-कल्पना है।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

पदार्थ—(विज्ञान सारथिः) वेदज्ञान से परिष्कृत बुद्धि जिस मनुष्य का सारथि है (यः) जो (तु) तो (मनः प्रग्रह) मन रूप लगाम वाला (नरः) मनुष्य [अर्थात् न कोचवान् प्रमादी है और न लगाम ढीली है] (सः) वह (अध्वनः) मार्ग से (पारम्) पार होने के पश्चात् (आप्नोति) प्राप्त करता है (तत्) उस (विष्णोः) विष्णु= सर्वव्यापक परमात्मा, परमानन्दमय परमात्मा के (परमम्) अत्यन्त सूक्ष्म (पदं) पद को। [अर्थात् उसको ब्राह्मी अवस्था प्राप्त हो जाती है, जीव सच्चित् तो पहले से है ही, आनन्द उसे परमात्मा से मिल जाता है, जिससे वह आनन्द को भोगता है]।

भावार्थ—जो मनुष्य धारणावती बुद्धि को अपना सारथि बना लेता है, बुद्धि के विरुद्ध कोई कार्य्य नहीं करता, सम्पूर्ण संसार को अनित्य और आत्मा को नित्य मानता है; और सदा मन को आत्मचिन्तन में लगाये रखता है. इन्द्रियां विषयों की ओर वेग से जाती हैं किन्तु वह मन की लगाम को बल से खींच कर उनको विषयों से हटाता है, और कभी मन को शिथिल नहीं होने देता। जिस इन्द्रिय के विषय में मन जाता है, वहाँ से उसे रोक कर आत्मा की ओर लगाता है; चूँकि आत्मा और परमात्मा निराकार हैं, मन भौतिक और साकार है, अतः मन आत्मा परमात्मा की ओर सरलता से प्रवृत्त नहीं होता। जो मनुष्य बुद्धि द्वारा मन को वश में करके इन्द्रियों के विषयों में नहीं लगने देता, वह परमात्मा के आनन्दपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सच्चित् तो जीव स्वभाव से है ही, परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करके वह सच्चिदानन्द बन जाता है।

प्रश्न क्या इस अवस्था में जीव ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता ?

उत्तर— जीव उस अवस्था में भी जीव ही रहता है;

अल्पज्ञता, जो उसका स्वाभाविक गुण है, तब भी नष्ट नहीं होती है।

प्रश्न—जीव की अल्पज्ञता क्यों नहीं हटती ?

उत्तर—जीव परिच्छिन्न है, परिच्छिन्न के गुण किसी भी भांति अनन्त नहीं हो सकते। जैसे सूर्य पृथिवी से लाखों गुणा भारी है, तो भी परिमित होने के कारण उसकी शक्ति भी परिमित है, अतः रात्रि को वह प्रकाश नहीं दे सकता। जिस प्रकार अग्नि का संयोग प्राप्त करके लोहा गरम हो जाता है, उसमें अग्नि के कण या स्फुलिंग दिखाई देने लगते हैं, किन्तु भार जो उसका अपना गुण है, भाररहित (लघु) अग्नि का संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होता, तोलने से गरम लोहा स्पष्ट भारवाला दिखाई देता है, इस भांति ब्रह्मसंसर्ग से आनन्दवान् होकर भी जीव अपरिच्छिन्न और सर्वज्ञ नहीं बन सकता, उस दशा में भी उसकी परिच्छिन्नता तथा अल्पज्ञता बनी रह जाती है ॥९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥

पदार्थ—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (पराः) सूक्ष्मतर (हि) सचमुच (अर्थाः) इन्द्रियों के विषय, (अर्थेभ्यः) इन्द्रियों के विषयों से (च) और (परम्) अधिक सूक्ष्म (मनः) मन है [अर्थात् इन्द्रियों से विषय और विषयों से मन सूक्ष्म है] (मनसः) मन से (च) और (परा) सूक्ष्म (बुद्धिः) बुद्धि है (बुद्धेः) बुद्धि से (आत्मा) आत्मा (महान्) महत् (परः) सूक्ष्म है।

भावार्थ—इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि अधिक सूक्ष्म हैं। भीतर जाने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना होता है, अतः सूक्ष्मता में जो उत्कृष्ट है, उसको 'पर' बतलाया है। कार्य्य से कारण सदा सूक्ष्म होता है, अतः विषयों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन दो प्रकार का है, एक स्वाभाविक मन जिसे मनशक्ति भी कहते हैं, दूसरा भौतिक मन जो अन्तःकरण कहलाता है। बुद्धि इस अन्तःकरण से सूक्ष्म है, और [महान्+आत्मा=महत्तत्व] जगत् का समष्टि मन बुद्धि से भी सूक्ष्म है।

प्रश्न - आपके कथन से अन्तःकरण चार प्रतीत होते हैं। सांख्य दर्शन के टीकाकारों ने जो प्रक्रिया बनाई है, उससे तीन और सांख्य सूत्रों में दो अन्तःकरण प्रतीत होते हैं।

उत्तर सांख्य दर्शनकार ने, निस्सन्देह, मन और अहंकार दो ही अन्तःकरण माने हैं किन्तु उनके लेख के आधार पर टीकाकारों ने चित्तवृत्ति मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्ति के भेद से तीन अन्तःकरण कहे हैं। वेदान्तियों ने अहंकार को सम्मिलित करके चार अन्तःकरण माने, इसमें विरोध की क्या बात है† ?

प्रश्न—मन, करण और शक्ति भेद से दो प्रकार का होना आपने प्रतिपादन किया है, शास्त्र से यह प्रमाणित नहीं है। यह आप की कोरी कल्पना है।

उत्तर—शास्त्रों का समन्वय करने से मन दो प्रकार का प्रतीत होता है। वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता महर्षि कणाद ने शक्ति रूप मन का विचार किया। अतः मन को नित्य सिद्ध किया। महर्षि कपिल जी ने अन्तःकरण मन का विवेचन किया। अतः मन को अनित्य प्रतिपादन किया। छान्दोग्योपनिषद् में भी अन्तःकरण मन का विवेचन किया गया है। इसलिये वहां भी मन को अनित्य कहा गया है। वेद ने मनशक्ति को नित्य प्रतिपादन किया है*।

---

† स्वामीजी का अभिप्राय यह है कि मूल अन्तःकरण दो ही हैं। किन्तु कार्य्यभेद के कारण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चार हो जाते हैं। जैसे नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं, वे अर्थापत्ति, असम्भव और अभाव को अनुमान के अन्तर्गत और ऐतिह्य को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं, दूसरे कई दार्शनिक आठ प्रमाण मानते हैं। जैसे यहां विरोध नहीं, वैसे अन्तःकरणों की संख्या का भेद होने से कोई विरोध नहीं ?

* यजुः ३४।३ में मनशक्ति को 'ज्योतिरन्तरमृतम्' कहा है। यजुः ३४।६ में 'अजिरम्' कहा है। भौतिक करण तो विनाशी होता है, वह अमृत=अमर और अजिर=अजर कैसे हो सकता है ? अतः वेद का (य० ३४।१–६) मन शक्ति है।

ऐसे ही मोक्षावस्था में आत्मा के साथ मन के रहने न रहने का विचार है। पराशर जी ने करण मन का विचार किया तो उन्हें मुक्ति दशा में उसका अभाव प्रतीत हुआ। जैमिनि जी ने मनशक्ति को विचारा तो उन्हें प्रतीत हुआ कि आत्मा की मन-शक्ति [मनन-शक्ति=विचार ने का सामर्थ्य] मुक्ति में भी साथ रहता है। अतः उन्होंने मुक्ति दशा में मन का होना स्वीकार किया। व्यास जी ने इस विवाद पर निर्णय देते हुए कहा कि दोनों पक्ष—पराशर जी और जैमिनी जी के—शुद्ध हैं। करण मन अनित्य है, अतः वह मुक्ति में संग नहीं रहता। शक्ति रूप मन नित्य है, वह मुक्ति में भी रहता है*। अतः शास्त्रों में दो प्रकार के मन प्रतिपादित हैं। यदि एक ही विषय में शास्त्रों में इतना मतविरोध हो तो सब शास्त्र अप्रमाण हो जायँ।

प्रश्न—यह क्यों न मान लिया जाय कि ऋषियों में मतभेद है, जैसा कि अनेक योरुपीय विद्वान कहते हैं?

उत्तर—उस अवस्था में उनको ऋषि कहना व्यर्थ है। प्रसिद्ध कहावत है—सौ सयाने एक मत, मूर्ख अपनी-अपनी; अर्थात् सौ बुद्धिमानों का मत एक होता है, मूर्खों का सदा मतभेद रहता है। ऋषि चूंकि वेद के विद्वान् होते हैं अतः उनकी सम्मति में मतभेद नहीं होता।

प्रश्न—ऋषि भी तो मनुष्य होते हैं, उनसे भी भूल हो सकती है फिर व्यर्थ की खींचातानी की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जो सदा सत्य बोलता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। स्थिर बुद्धि के बिना कोई भी मनुष्य ऋषि नहीं कहला सकता। यह सिद्धान्त कि मनुष्यों की मति में अवश्य ही भ्रान्ति होनी चाहिये, आप को क्या परमेश्वर ने बताया है? वैदिक शास्त्रों ने इसका निर्णय कर दिया है। उनके अनुसार देव=विद्वान् सदा सत्य बोलते हैं, जो सत्य झूठ मिश्रित बोलता है, वह मनुष्य है। + ऋषि देव हैं, उनके कथन में मिथ्या की सम्भावना नहीं है ॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

पदार्थ—(महतः) महत्तत्व से (परम) परे, सूक्ष्म (अव्यक्तम्) अव्यक्त=सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृति है (अव्यक्तात्) सत्व, रजः, तमः वाली प्रकृति से (पुरुषः) पुरुष=जीवात्मा तथा परमात्मा (परः) पर, सूक्ष्म। (पुरुषात्) पुरुष से (न) नहीं (परम) सूक्ष्म (किंचित्) कुछ भी (सा) वह (काष्ठा) अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् मानवजीवन का ध्येय है। (सा) वह परमात्मा जो सबसे अधिक सूक्ष्म है (परा) अन्तिम (गतिः) गति है; ज्ञान, गमन और प्राप्ति की चरम सीमा

---

* यह शास्त्रार्थ वेदान्त दर्शन ४।४।१०-१२ सूत्रों में है। पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिये हम अर्थ सहित सूत्रों को यहाँ लिखते हैं—अभावं बादरिराह ह्येवम्=व्यास जी के पिता बादरि (पराशर) मुक्ति में मन का अभाव=लय मानते हैं। भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्=जैमिनि जी विकल्प न मान कर मुक्ति में मन की सत्ता मानते हैं। द्वादशाहवदुभयविध बादरायणोऽतः=व्यास जी दोनों बातें मानते हैं अर्थात् वे कहते हैं शुद्ध सामर्थ्य रूप मन मुक्ति में रहता है, किन्तु करण मुक्ति में नहीं रहता है। इसी सारे शास्त्रार्थ का सार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में इन शब्दों में व्यक्त किया है—"उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता... मोक्ष में भौतिक शरीर या इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं।"

+ सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः (शतथ ब्राह्मण १.१.१.१) देव सदा सत्य व्यवहार करते हैं, मनुष्य के व्यवहार में कभी-कभी अनृत भी आजाता है। शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऋषियों को मनुष्यों से भिन्न कहा गया है जैसे 'आप्तोपदेशः शब्दः' सूत्र पर भाष्य (न्याय) करते हुए वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—'ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्।' यहां ऋषि, आर्य्य और म्लेच्छ तीन भेद कर दिये।

है। उसके आगे न कोई पदार्थ ज्ञेय है, न गन्तव्य, और न प्राप्तव्य।

भावार्थ—इस अलङ्कार में पांच कोषों § का संकेत करके एक को छोड़ कर उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर में जाने और विवेक करने का आदेश सा है। ऋषि कहते हैं, उस महत्त=समष्टि जगत् के मन से परे अव्यक्त=प्रकृति है, अर्थात् मन से नहीं जानी जा सकती। मन विकृति को जान सकता है। जिस समय जीवात्मा सुषुप्ति दशा में कारण शरीर अर्थात् प्रकृति से संबद्ध होता है, उस समय मन का कार्य सर्वथा रुक जाता है, क्योंकि वह इन्द्रियों के विषयों को अनुभव कर सकता है, इन्द्रियों के विषय भौतिक हैं।

जब तक विरोधी वस्तु न हो, किसी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। अन्धकार के विरोधी होने से प्रकाश का ज्ञान होता है। सरदी के विरोधी होने से गरमी का ज्ञान होता है अर्थात् किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसके विरोधी गुणों वाली वस्तु का ज्ञान आवश्यक है। विरोध के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यथार्थ ज्ञान=विवेक ज्ञान वहीं उपयोगी हो सकता है जहां विविध प्रकार के पदार्थ हों।

प्रकृति तो सत्व रजः और तमः की साम्यावस्था को कहते हैं अर्थात् जब गुण* सत्त्व, रजः, तमः-एक दूसरे के विरोध में कार्य्य न कर रहे हों। अतः प्रकृति मन से पर=सूक्ष्म है। पुरुष=जीवात्मा तथा परमात्मा तो प्रकृति से भी परे है, परमात्मा से परे=पर=सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है। वह ज्ञान की अन्तिम सीमा है। जिस प्रकार किसी समस्या का यथार्थ समाधान पाकर गणितज्ञ का चित्त शान्त हो जाता है, जिस प्रकार सत्तर्क=सच्चे तर्क पर नैयायिक का चित्त ठहर जाता है, जिस प्रकार अन्तिम उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर पथिक की गति समाप्त हो जाती है, ऐसे ब्रह्म को जान कर जीव का समस्त पुरुषार्थ, जिससे वह जानने का यत्न करता है, सफल होकर परिसमाप्त हो जाता है। ब्रह्म को जान लेने के पश्चात् किसी पदार्थ के जानने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर सब इच्छायें शान्त हो जाती हैं, धन की कामना नहीं होती, धन तो मनुष्य आनन्द का साधन समझ कर चाहता है, जब आनन्द के सत्य-स्रोत पर पहुँच जाते हैं। तब धन की आवश्यकता ही नहीं रहती। न ही सन्तान की कामना होती है। न ही यश-कीर्त्ति, मान-प्रतिष्ठा, राज्य, ऐश्वर्य्य अच्छे लगते हैं, क्योंकि इन समस्त सांसारिक पदार्थों की कामना केवल आनन्द के लिये होती है। यदि सांसारिक पदार्थों में आनन्द का भ्रम न हो, तो संसार में कोई भी पदार्थ कमनीय=चाहने योग्य ही नहीं। जब यथार्थ ज्ञान हो जाये और यह ज्ञात हो जाये कि आनन्द इन पदार्थों में नहीं, वरन् आनन्द का स्रोत कोई अन्य ही है, तब इन पदार्थों से विरति हो जाती है। आनन्द

---

§ पांच कोष ये हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय।

अन्नमय—त्वचा से लेकर अस्थिपर्य्यन्त का पृथिवीमय समुदाय है।

प्राणमय—में प्राण, अपान, उदान और व्यान होते हैं।

मनोमय—मन, अहंकार और पांच कर्मेन्द्रियों—वाक्, पाद, पाणि, वायु और उपस्थ—का समुदाय है।

विज्ञानमय—बुद्धि, चित्त तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—का समुदाय है, जीव इससे ज्ञानादि व्यवहार करता है।

आनन्दमय—में प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति होती है।

इन्हीं कोषों से जीव सब कर्म्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

* गुण का एक अर्थ बन्धन ही रस्सी होता है। प्रकृति के सत्व, रजः और तमः चूँकि जीवात्मा को बांधते हैं, इस वास्ते वे गुण कहलाते हैं। सत्त्व, रजः, तमः प्रकृति है।

के स्रोत पर पहुँच कर फिर किस वस्तु की कामना हो सकती है ?

प्रश्न—जनक आदि अनेक राजा हुए हैं जिनके पास धन, जन, सन्तान एवं राज्य था, फिर भी वे ज्ञानी प्रसिद्ध थे।

उत्तर—धन की कामना=वित्तैषणा तो ब्रह्मज्ञान में प्रतिबन्धक=रुकावट है, किन्तु धन का होना ब्रह्मज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं है। धन का होना इच्छा पर निर्भर नहीं है। वह भोगानुसार मिलता है। जिसके=भाग्य में धन है, वह विरक्त होकर भी धनी हो सकता है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

पदार्थ—(एषः) यह परमात्मा [जो सब के अन्दर रहता हुआ सबको नियम में चला रहा है, जिसको योगिजन योग समाधि से निर्मल मन द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, अर्थात् जो शुद्ध मन से जाना जाता है] (सर्वेषु भूतेषु) समस्त जीवों तथा भूतों के अन्दर (गूढात्मा) छिपा हुआ और व्यापक होने से (न) नहीं (प्रकाशते) प्रकट होता [अर्थात् बुद्धि के बाह्य विषयों में लिप्त होने से नहीं प्रकट होता]। (दृश्यते , देखा जाता है तु) किन्तु (अग्र्यया) अग्रगामिनी, विषयों में अलिप्त और सब विषयों को ग्रहण करने में समर्थ (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मया) सबसे सूक्ष्म (सूक्ष्मदर्शी लोगों से।

भावार्थ—परमात्मा जो सब पदार्थों के अन्दर व्यापक होकर इन सबको नियम में चला रहा है, किसी एक स्थान में नहीं है। उसके दर्शन के लिये किसी विशेष स्थान में जाने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि वह सब पदार्थों में व्यापक है किन्तु बाह्य विषयों में लिप्त बुद्धि उसे नहीं ग्रहण कर सकती। अल्पज्ञ जीवात्मा की बुद्धि एक समय में एक ही कार्य्य कर सकती है। जब तक वह बाहर के विषयों में लिप्त है, तब तक वह आभ्यन्तरिक सूक्ष्म विषय को कैसे ग्रहण कर सकती है ?

जो लोग यह समझते हैं कि चूँकि वे परमात्मा को नहीं देख सकते, अतः परमात्मा नहीं है। उन्हें समझाइये कि परमात्मा देखा जा सकता है। किससे ? मेधा बुद्धि से, जो सूक्ष्म विषयों के ग्रहण करने में समर्थ हो, अर्थात् जिस बुद्धि में बाह्य विषयों की भावना भी न हो, जो बुद्धि स्वयं भी सूक्ष्म हो। जिस प्रकार जल में गति करते हुए कीटाणु (Germs) कोरी आँख से दिखाई नहीं देते किन्तु परीक्षकजन जिस समय अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से देखते हैं तो दिखाई देने लगते हैं। क्या स्थूल नेत्र से दिखाई न देने के कारण, उन सूक्ष्म कीटाणुओं (Germs) की, जो अणुवीक्षण यन्त्र से देखे जाते हैं, सत्ता का अपलाप करना बुद्धिमत्ता है ? कदापि नहीं। इसी तरह परमात्मा को सूक्ष्मदर्शी मेधाबुद्धि संपन्न महात्मा देख सकते हैं। जिन मनुष्यों की बुद्धि पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का आवरण पड़ा है, वे परमात्मा को नहीं जान सकते, जब तक आवरण न हटे। अतः इस आवरण को हटाने का यत्न करना बुद्धिमानों का आवश्यक कर्त्तव्य है। किन्तु अपनी अन्धी आंख से सूर्य्य को न देख सकने पर, आँख की चिकित्सा न कराकर, सब लोगों को दिखाई देने वाले सूर्य्य की सत्ता का अपलाप करना उन स्वार्थी मूर्खों की लीला है जिनकी बुद्धि पर अज्ञान का आवरण है। अतः जो लोग परमात्मा की सत्ता का अपलाप करते हैं, उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते वे, बुद्धि पर विषय-कामना का आवरण पड़ा होने के कारण, नितान्त अन्धे हैं और जो परमात्मा को किसी एक स्थान पर विद्यमान मान कर उसका अनुसंधान करते हैं, वे भी परमात्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। परमात्मा किसी एक स्थान पर नहीं है, वरन् वह सब पदार्थों के भीतर व्यापक है ॥१२॥

यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

पदार्थ—(यच्छेत्) विषयों से हटा कर स्थिर करे (वाङ्) वाणी को [वाणी से अभिप्राय सब इन्द्रियां हैं] (मनसि *) मन में = ज्ञानेन्द्रिगों में (प्राज्ञः) बुद्धिमान् (तत्) उसको (यच्छेत्) रोक कर स्थिर करे (ज्ञाने) ज्ञान कराने वाले (आत्मनि) अहङ्कार में। (ज्ञानम्) ज्ञान को= अहंकार को (महति + आत्मनि) महत्तत्व में=शुद्ध मन में (नियच्छेत्) रोक कर स्थिर (तत्) उस शुद्ध मन को (यच्छेत्) निरुद्ध करे, सब ओर से रोक कर स्थिर करे (शान्ते) शान्तिदायक (जहाँ मन स्थिर हो सकता है] (आत्मनि) परमात्मा में।

भावार्थ—कर्म्मेन्द्रियों को विषयों से हटाकर पहले उन्हें ज्ञानेन्द्रियों के आधीन करे, और ज्ञानेन्द्रियों को अहङ्कार में रोके। अर्थात् जितना अपना अधिकार है, उतना लेने का विचार करे। अपने अधिकार से बाहर की वस्तु के हरण का विचार भी न करे। अहङ्कार को मन के अनुसार आचार करने पर तैयार करे और मन को शान्त स्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध कुछ करने ही न दे। जो बुद्धिमान मनुष्य इस नियम का पालन करता है, वही लक्ष्य तक पहुँच सकता है। जो उसके विरुद्ध आचरण करता है वह अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। कर्म्म सदा ज्ञान के अनुकूल होना चाहिये और ज्ञान अपने अधिकार के अनुसार होना चाहिये, अधिकार कदापि अन्तरात्मा के आदेश या मन के विरुद्ध न हो, मन सदा परमात्मा के नियम के अनुसार चलने वाला हो—कभी भी मन में यह विचार न हो कि संसार में कोई मनुष्य अपने कर्म्मों के बिना दुख पा सकता है।

प्रश्न—उपनिषत् के शब्दों से तो यह झलकता है कि वाणी को मन के वश में रखे और अन्दर वाले ज्ञान को महत् अर्थात् बुद्धि के वश में रखे और बुद्धि को शान्तात्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये। तुमने इससे भिन्न अर्थ क्यों किया है?

उत्तर—ज्ञान और बुद्धि एक ही पदार्थ के नाम हैं। अतः आप का बताया अर्थ करने से पुनरुक्ति और आत्माश्रय दोष आते हैं,⁂ जो ऋषियों के ग्रन्थों में नहीं हो सकते। दोषयुक्त ग्रन्थ अप्रमाण होता है। अतः अर्थ यह करना चाहिये—कर्म्मेन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियों में, ज्ञानेन्द्रियों को अहङ्कार में, अहङ्कार को शुद्ध मन में, शुद्ध मन को परमात्मा के गुणों के चिन्तन में लगाने से सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अपने अन्दर रहने वाले परमात्मा को देख सकता है ॥१३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

पदार्थ—(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो, प्रमाद-निद्रा त्यागो (प्राप्य) प्राप्त करके (वरान्) ब्रह्मविद्यावेत्ता गुरुओं को (निबोधित) जानो, ज्ञान प्राप्त करो। (क्षुरस्य) छुरे की (धारा) धारा के समान (निशिता) तीक्ष्ण की हुई (दुरत्यया) दुर्लंघ्य [जिसमें पैर कटने की आशंका हो] (दुर्गम्) दुर्गम् (पथः) ब्रह्मज्ञान का मार्ग (तत्) वह (कवयः) क्रान्त-दर्शी ब्रह्मज्ञानी विद्वान् लोग (वदन्ति) बतलाते हैं।

भावार्थ—ऋषि कहता है—हे प्रमाद व आलस्य की निद्रा सोनेवालो! तुम्हारी यह अविद्या-निद्रा तुम्हारे लिये

---

* मूल में पाठ 'वाङ्मनसी' है। उसके अनुसार अर्थ होगा, 'बुद्धिमान् वाणी और मन को रोके।' स्वामीजी ने इस समस्त पद के स्थान में दो जुदा जुदा पद मान कर अर्थ किया है। इससे भाव में कोई भेद नहीं पड़ा। उपनिषत्कार वाणी और मन के संयम का उपदेश कर रहे हैं। स्वामीजी पहले वाणी को मन में लय करने का उपदेश करके फिर मन को भी रोकने का उपदेश करते हैं। फल दोनों का एक है।

⁂ प्रयोजन के बिना व्यर्थ ही किसी बात को बार-बार दोहराना पुनरुक्ति है। उसको साध्य भी मानना और साधन भी मानना आत्माश्रय दोष है। चतुर से चतुर मनुष्य भी अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता।

भयावह है, इस से सजग होकर, सावधान होकर उठो। खोज करके ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाओ। जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, तुम अपने तत्त्व, स्वरूप को नहीं जान सकते। जिसको अपने स्वरूप का ज्ञान न हो, वह अपने हानि लाभ को नहीं समझ सकता। जिसको अपने हानि-लाभ का ज्ञान न हो, वह कैसे दुःखों से छूट कर आनन्द प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग सान पर चढ़ा कर तीक्ष्ण किये हुए छुरे की धार से भी तीक्ष्ण है, जिस पर चलने वालों को पग-पग पर गिरने का भय रहता है। ब्रह्मज्ञानी लोग बतलाते हैं कि इस मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है।

प्रश्न--किसी गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह मार्ग प्रत्यक्ष तो है नहीं, जिसको इन्द्रियों से जान सकें। जब सांसारिक मार्ग भी, बतलाने वाले के बिना, ज्ञात नहीं हो सकता, तब इस सूक्ष्म मार्ग के लिये क्या किसी बतलाने वाले की आवश्यकता नहीं है ?

प्रश्न—किसी मूर्ख को मार्गप्रदर्शक की आवश्यकता हो सकती है। हम ने पदार्थविद्या (Science) भूगोल, इतिहास आदि विद्यायें पढ़ी हैं, हमें गुरु की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—निस्सन्देह जो विद्यायें आप पढ़ चुके हैं, उनके लिये आपको किसी गुरु की आवश्यकता नहीं हैं। किन्तु जैसे आपने यह विद्यायें गुरु से पढ़ी हैं, गुरु के बिना आपको नहीं आईं वैसे ही ब्रह्मविद्या के लिये भी जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, आप उसके निपुणज्ञाता नहीं हो सकते।

प्रश्न--यदि यह मार्ग इतना विकट है और छुरे की धारा से भी अधिक तीक्ष्ण है, तो हमें क्या आवश्यकता पड़ी है कि हम इस पर चलें ?

उत्तर—चाहे आप नित्य दुःख उठाया करें, जैसे मज़दूर प्रतिदिन अन्न कमाता है और प्रतिदिन समाप्त कर देता है, अथवा किसान की भाँति अधिक परिश्रम करके खेती करें, और पर्याप्त समय के लिये निश्चिन्त हो जायें। इसी भाँति कष्टसाध्य मार्ग पर चलकर आप या तो इकत्तीस नील, दस खरब, चालीस अरब वर्षों तक पूर्ण आनन्द भोगें या इस मार्ग से हट कर कीट-पतंग से भी नीच गति प्राप्त करें।

प्रश्न—हम तो चाहते हैं कि इतने बड़े सुख को प्राप्त करें, किन्तु यह तो बहुत दुर्लभ है।

उत्तर निस्सन्देह दुर्लभ है, किन्तु अलभ्य या असम्भव नहीं। कठिन कार्य से अज्ञानी डरा करते हैं या दुर्बल और भीरु। यदि तुम नचिकेता जैसे कुमार से शिक्षा लेकर कामना त्याग-रूपी कठोर व्रत को धारण करो, तो सफलता सामने है ॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

पदार्थ—(अशब्दम्) शब्द गुण वाले आकाश से भिन्न है (अस्पर्शम्) स्पर्श गुण वाले वायु से भिन्न है (अरूपम्) रूपगुण वाले तेज=अग्नि से भी वह पृथक् है (अव्ययम्) उत्पत्ति विनाश से रहित है (तथा) ऐसे ही (अरसम्) रसगुण वाले जल से भी भिन्न है (नित्यम्) सदा रहने वाला है (अगन्धवत्) गन्धवती पृथिवी से भी भिन्न (च) और (यत्) जो। (अनादि) अनादि, कारणरहित (अनन्तम्) अन्त से रहित (महतः) महान् पदार्थों से भी (परम्) पर, सूक्ष्म (ध्रुव) निश्चल, एक रस है (निचाय्य) निश्चयपूर्वक जानकर (तम्) उस ब्रह्म को (मृत्युमुखात्) मृत्यु के मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है।

भावार्थ—जो परमात्मा न तो आकाश है कि जिसके गुण—शब्द को कानों से सुन सकें, न ही वायु है कि जिसके गुण स्पर्श को त्वचा से अनुभव कर सकें, न ही अग्नि है कि जिसके गुण रूप को नेत्रों द्वारा देख सकें; वह उत्पत्ति और नाश से रहित, वृद्धि ह्रास से शून्य है, रसनेन्द्रिय उसको जानने में असमर्थ है, जो नित्य है, जिसको अनुभव करने में घ्राणेन्द्रिय—नाक भी अयोग्य है, क्योंकि वह गन्धवती

पृथिवी से भिन्न है, वह अनादि है अर्थात् उसका आदि=कारण कोई नहीं है। वह अनन्त है अर्थात् उसका नाश असम्भव है। सबसे महान् होने के कारण वह सब से सूक्ष्म है। वह सदा एक रस रहने वाला निश्चल है। ज्ञानी जन उसे जान कर मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने पर मृत्यु के मुख से कैसे छूट जाता है?

उत्तर—जब तक अविद्या रहती है, तब तक मनुष्य अपने शरीर को ही आत्मा समझता है, और मृत्यु चूँकि शरीर का धर्म्म है, अतः अपने आपको वह मृत्यु का ग्रास समझता है। नियमानुसार ब्रह्मज्ञान से पूर्व आत्मा का ज्ञान होना आवश्यक है, आत्म-ज्ञान होने से शरीर को आत्मा मानना रूपी अविद्या दूर हो जाती है। शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान जब हुआ तो आत्मा अमृत अनुभव हुआ। जब अपने आपको आत्मा और अमृत अनुभव किया, तो फिर मृत्यु का भय किस प्रकार हो सकता है। [मृत्यु के भय से छूटना ही मृत्यु के मुख से छूटना है] ॥१५॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्यु प्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

पदार्थ—(नाचिकेतम्) नचिकेता सम्बन्धी (उपाख्यानम्) गुरुशिष्य संवाद रूप उपाख्यान को (मृत्यु प्रोक्तम्) मृत्यु नामक ऋषि से कथित (सनातनम्) सदा से, अनुक्रम से एक दूसरे से सुने जाते हुए (उक्त्वा) कहकर (श्रुत्वा) सुनकर (च) और (मेधावी) बुद्धिमान् मनुष्य (ब्रह्मलोके) ब्रह्मदर्शन के आनन्द में (महीयते) प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

भावार्थ—जो यह गुरु शिष्य के संवाद रूप में नचिकेता के प्रति यमाचार्य्य का उपदेश है, जो अनुक्रम से सदा ऋषियों द्वारा प्रकाशित होने के कारण सनातन है, इसको जो बुद्धिमान् कथा की रीति से कहेगा या सुनेगा, वह ब्रह्मदर्शन के महत्त्व को प्राप्त करेगा अर्थात् उसे ब्रह्मज्ञान हो जायेगा।

प्रश्न—यदि इस कथा के कहने सुनने से ब्रह्मज्ञान हो जाये, तो अन्य साधनों की फिर क्या आवश्यकता है?

उत्तर—उपनिषत् के इस वचन में इस उपाख्यान के कहने-सुनने की योग्यता पर एक प्रतिबन्ध है, वह है मेधा। अर्थात् मेधावी जब इस कथा को कहे सुनेगा, तब उसके संस्कारों के उत्तम होने के कारण उसके अन्तःकरण में इस बात का निश्चय हो जायेगा, क्योंकि ज्ञान के बिना और मन के मल, विक्षेप, आवरण दोषों के दूर हुए बिना मेधा-बुद्धि=शुद्धबुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जब मेधाबुद्धि प्राप्त हो गई तब इसका भाव यह हुआ कि केवल विज्ञान की न्यूनता थी जिसकी पूर्ति इस कथा ने कर दी ॥१६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते, तदानन्त्याय कल्पते इति ॥१७॥

पदार्थ—(यः) जो ज्ञानी मनुष्य (इमम्) गुरु शिष्य के इस संवाद को (परमम्) अत्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मतम परमात्मा-सम्बन्धी (गुह्यम्) मूर्खों से छिपाने योग्य और अधिकारी को ही एकान्त में गुप्त रूप से उपदेश करने योग्य (श्रावयेत्) सुनाये, उसका रहस्य खोल कर समझाये अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे (ब्रह्मसंसदि) ब्रह्मज्ञानियों की सभा में (प्रयतः) शरीर, मन और इन्द्रियों को शुद्ध करके, और एकाग्र करके (वा श्राद्धकाले) अथवा जिस समय श्रद्धापूर्वक सत्कार करने के लिये विद्वान् निमन्त्रित हों ऐसे काल में (तत्) वह सुनना (आनन्त्याय) अनन्तफल अर्थात् ब्रह्मदर्शन कराने वाला (कल्पते) ऐसा है। ['तदानन्त्याय कल्पते' दूसरी बार पूर्वोक्त बात की दृढ़ता के लिये कहा गया है।] ऐसा स्वीकार किया जाता है।

भावार्थ—जो पूर्ण विद्वान् आचार्य्य या गुरु इस परम पवित्र, सबसे अधिक विचारणीय और चिन्तनीय ब्रह्मविद्या की चर्चा को, जो मूर्खों पर प्रकाशित करने योग्य नहीं है, केवल उन्हें सुनाये, जो इसके अधिकारी हों, वैदिकसमाज में, जहां मूर्ख न हों, ब्रह्मविद्या के अधिकारी ही एकत्रित हुए हों, या जहां पूर्ण विद्वान् लोग श्रद्धा पूर्वक चर्चा करने के निमित्त

बुलाये गये हों, सुनाने वाला स्वयं शुद्ध होकर मन और इन्द्रियों को वश में करके सुनाये ; उसको सुनाने का फल यह मिलता है कि वह अनन्त=अपरिच्छिन्न ब्रह्म के दर्शन करके, ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

प्रश्न—मूर्खों से गुप्त रखने का आदेश क्यों किया ?

उत्तर—मूर्ख इसके तत्व को ग्रहण नहीं कर सकते, इससे यह ज्ञान उनके लिये हितकर नहीं हो सकता। उनको इस गुह्य ज्ञान का उपदेश करने का फल वैसा ही हो सकता है जैसा आजकल वेदान्त की शिक्षा ने किया है। आजकल के वेदान्तियों को ब्रह्मतत्व का तो रत्ती भर ज्ञान नहीं, उलटा धर्म्म के व्यवहार, कर्त्तव्य को अन्यथा कर बैठे हैं। कौड़ी-पैसे मांगते हुए ब्रह्म बन बैठे हैं। गृहस्थों के लिये जगत् के मिथ्या होने का उपदेश होने लगा और स्वयं उदासी, वैरागी, संन्यासी नाम धरा जमींदारियां खरीदने लगे।

प्रश्न—वैदिक समाज या ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में सुनाने का विधान क्यों किया ?

उत्तर—यदि ऐसा विधान न करके मूर्खों के टोले में उपदेश करते, तो आजकल के कनफुकवे गुरुओं की भांति, जो चित्त में आता, उपदेश कर डालते। जब विद्वानों की सभा में उपदेश करना है तो किसी अज्ञानी का वहां उपदेश करने का साहस नहीं हो सकता। जिस प्रकार साधारण ग्रामीण लोगों के हाथ खोटा रुपया कदाचित् चल जाये तो चल जाये, किन्तु सराफ़ के पास खोटा रुपया ले जाते हुए डर लगता है। वहां रुपये का चलना कठिन प्रतीत होता है, किन्तु पकड़े जाना सरल प्रतीत होता है। ऐसे ही विद्वानों के सामने ज्ञानगपोड़े हांकने का साहस तो दूर रहा, उलटा स्वयं उपहास का पात्र बनने का डर लगा रहता है।

एक और कारण से भी यह विधान किया कि यदि कोई बात कथन करने वाले से रह जाये, या न सुलझाई जा सके, तो उस समय विद्वान् लोग उसे सुलझा कर स्पष्ट कर देते हैं ॥१७॥

तृतीया वल्ली समाप्त और साथ ही प्रथमाध्याय।

चतुर्थी वल्ली

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

पदार्थ—(पराञ्चि) बाहर के विषयों की ओर (खानि) आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों को (व्यतृणत्) फैलाता है (स्वयम्भूः) नित्य रहने वाला, अनुत्पन्न जीव। (तस्मात्) इस कारण (पराङ्) बाहर की ओर (पश्यति) देखता है (न) नहीं (अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा=आत्मा के भीतर व्यापक परमात्मा को। (कश्चित्) कोई विशेष (धीरः) धैर्यवाला, मेधाबुद्धिसंपन्न योगी (प्रत्यगात्मानम्) जीवात्मा के अन्दर व्यापक परमात्मा को (ऐक्षत्) देखता है (आवृत्तचक्षुः) ज्ञानेन्द्रियों को बाहर के विषयों से निरुद्ध करके (अमृतत्वम्) मोक्ष पद को (इच्छन्) चाहता हुआ।

भावार्थ—इन्द्रियां स्वभाव से बाहर के विषयों को अनुभव करनेवाली बनी हैं। अतः जागने की अवस्था में, जब जीवात्मा इन्द्रियों से कार्य लेता है, तब इन्द्रियों को बाहर की ओर फैलाता है, जिससे उसे बाहर के विषयों का ज्ञान होता है। इन्द्रियों का जिन विषयों से सम्बन्ध होता है, उन्हीं का ज्ञान होता है, आत्मा के भीतर ये इन्द्रियाँ जा ही नहीं सकतीं, अतः आत्मा के अन्दर का ज्ञान जागने की दशा में

नहीं हो सकता। बाहर तो केवल प्रकृति के विकारों की उपासना होती है, जिससे प्रकृति का परतन्त्रता गुण ही जीव के अन्दर आता है। परतन्त्रता=स्वतन्त्रता का न होना ही दुःख है। फलतः जागने की दशा में जीव को दुःख ही का अनुभव होता है। ईर्ष्या द्वेष, काम क्रोध, लोभ मोह, मद अहंकार आदि प्रत्येक दोष जागने की दशा में ही होता है, अतः इन्द्रियों का विषयों से संबंध होना ही दुःख का हेतु है। जब सुषुप्ति दशा में जाने इन्द्रियों के विषयों से पृथक हो जाता है, तब समस्त दुःख भी भाग जाते हैं। सुषुप्ति दशा में न ईर्ष्या होती है, न द्वेष होता है, न काम होता है और न क्रोध; न लोभ होता है और न मोह। ये सब दोष जाग्रत दशा में होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ अनुभव होता है, सब नाशवान् है, अतः योगी इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध करके अन्दर रहने वाले अविनाशी आत्मा को देखता है, अर्थात् समाधि की साधना से परमात्मा को जानता है।

प्रश्न — क्या कारण है कि परमात्मा को अन्दर ही देखने का उपदेश किया गया है? परमात्मा तो सर्वव्यापक होने से बाहर भी तो है?

उत्तर — चूँकि बाहर परमात्मा प्रकृति में व्यापक है, प्रकृति स्थूल है। परमात्मा सूक्ष्म है। जब सूक्ष्म स्थूल के भीतर प्रविष्ट हो, तो आपाततः स्थूल ही का बोध होगा। जैसे तिलों में तेल है, देखने वाले को तिल दीखते हैं, तेल नहीं। जीवात्मा के भीतर प्रकृति नहीं पैठ सकती क्योंकि प्रकृति जीव की अपेक्षा स्थूल है। जीव के भीतर केवल ब्रह्म रह सकता है जो जीव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। अतः जब साधक आत्मा के अन्दर देखता है, तब ब्रह्म का ज्ञान होता है, जैसा कि सुषुप्ति समाधि और मुक्ति में होता है*।

प्रश्न—मुक्ति के होने में क्या प्रमाण है? अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि मुक्ति कोई पदार्थ नहीं है।

उत्तर—जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब (फोटो=चित्र) हो, उसका अभाव नहीं हो सकता। मुक्ति तो जिस किसी के भाग्य में होगी, उसी की होगी। समाधि की सिद्धि भी उसे होगी जो पुरुषार्थ और परिश्रम करेगा किन्तु सुषुप्ति, जो मुक्ति का प्रतिबिम्ब सा है, परमात्मा पापी से पापी जीव को भी प्रायः प्रतिदिन दिखला कर उपदेश करता है—हे मूर्ख! यदि विषयों से सम्बन्ध जोड़ोगे तो दुःख होगा, जैसा जाग्रद्-दशा में। और जब विषयों से पृथक् होवोगे, तब सब दुःख भाग जायेंगे, जैसे सुषुप्ति की दशा में।

बुद्धिमान् ज्ञानी इस सुषुप्ति से एक शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे देखते हैं, जाग्रत्-दशा में जब तक इन्द्रियों का व्यापार बना रहता है, तब श्रान्ति, ग्लानि, दुःख, खेद का अनुभव होता ही रहता है। सुषुप्ति आने पर ये सब भाग जाते हैं इससे वे यत्नपूर्वक सृष्टि नियम को समझकर, इन्द्रियों के व्यापार को रोकते हैं। इस बुद्धिपूर्वक इन्द्रियवृत्ति निरोध को समाधि कहते हैं।

समाधि के सतत अभ्यास से मुक्ति प्राप्त होती है, और फिर शरीर संबन्ध भी छूट जाता है। तब किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता है।

ध्यान से विचारें, तो सुषुप्ति दृष्टान्त, समाधि साधन तथा मुक्ति साध्य है। इसी तत्त्व को कपिलाचार्य्य ने 'समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' सूत्र में वर्णन किया है।

---

* सुषुप्ति जीव को शरीर में आती है, और वह परमात्मा के नियमानुसार, जीव की इच्छा हो या न हो, आती है। सुषुप्ति में चूँकि किसी इन्द्रिय का व्यापार नहीं होता, मन की क्रिया भी रुकी होती है। अतः जागने पर जीव कहता है -- बड़ा आनन्द आया, ऐसा सोया कि कुछ पता न लगा। जीव एकदेशी होने के कारण सदा क्रियाशील रहता है। जब विवशता से बाहर के विषयों से सम्बन्ध छूट जाता है, तब अनायास ब्रह्मसम्बन्ध हो जाता है, किन्तु ज्ञान न होने के कारण भौचक्का रह जाता है और पूरा आनन्द नहीं हो पाता।

प्रश्न—लोग विषयों की ओर क्यों भागते हैं ?

उत्तर—कुसंगति, ज्ञान की न्यूनता और आत्मिक बल के अभाव के कारण परमात्मा के सम्बन्ध में दृढ़ ज्ञान नहीं होता। भौतिक विषय प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, अतःलोग उनमें फँस जाते हैं। जैसा कि अगले वचन में प्रतिपादन किया गया है।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

पदार्थ—(पराचः) अपने शरीर से बाहर की (कामान्) कामनाओं के [अर्थात् सुन्दर स्त्रियों, धन, यान आदि के] (अनुयन्ति) पीछे चलते हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति के यत्न में लग जाते हैं। (बालाः) अज्ञानी। (ते) वे मूर्ख लोग (मृत्योः) मृत्यु के (यन्ति) जाते हैं, फँसते हैं (विततस्य) फैले हुए, बार बार आने वाले (पाशान्) फन्दों में। (अथ) और (धीराः) ज्ञानी, स्थिर बुद्धि वाले (अमृतत्वम्) अमृतत्व=मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (ध्रुवम्) नित्य, सदा रहने वाले आत्मा परमात्मा को, मुक्ति के सुख को (अध्रुवेषु) स्थिर न रहने वाले, विनाशी पदार्थों में इस संसार में (न) नहीं (प्रार्थयन्ते) खोजना चाहते।

भावार्थ—विद्वान् ज्ञानी जन सांसारिक पदार्थों—धन दारा सम्पत्ति आदि—की कामना नहीं करते, क्योंकि इनका परिणाम सुख नहीं है वरन् इनसे दुःख ही उत्पन्न होता है। शरीर से बाहर जो कुछ दीखता है, सब प्राकृतिक है। प्रकृति ज्ञान और आनन्द दोनों से शून्य है। बुद्धि उस वस्तु की कामना करती है, जो हितकारी हो। हितकारी की पहिचान यह है कि या तो वह दोषों को दूर करे या त्रुटियों की पूर्ति करे। जीवात्मा में अल्पज्ञता दोष है और आनन्द का अभावरूप त्रुटि है। प्रकृति ज्ञान से शून्य है, अतः अल्पज्ञता दोष का नाश नहीं कर सकती। आनन्द भी प्रकृति में नहीं है, अतः आनन्द के अभाव को भी दूर नहीं कर सकती। जो न दोष का नाश कर सके और न त्रुटि की पूर्त्ति कर सके, वह किसी भी दशा में हितकर नहीं हो सकती। जो मनुष्य अहितकर या अनुपयोगी वस्तु की कामना करे, उसके अज्ञानी होने में क्या सन्देह है। यही कारण है कि प्रकृति के उपासक अज्ञानी बार-बार मौत का शिकार होते हैं। प्राकृतिक सम्बन्धों में मौत की शृङ्खला, मौत का फन्दा ऐसा फैला है जैसे तिलों में तैल। अतः जो जन मेधा-बुद्धि सम्पन्न हैं, जिन्होंने मृत्यु और अमृत का विवेकज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो इस बात को जान गये हैं कि यह संसार स्थिर नहीं है, संसार का प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता और नष्ट होता है, जो स्वयं नाशवान् हैं, उसके द्वारा अविनाशी=अमृत पदार्थ कैसे प्राप्त हो सकता है ? कार्यमात्र अर्थात् सब उत्पन्न पदार्थ नाशवान् है, हाँ, कारण का अविनाशी होना सम्भव हो सकता है, जिसका कारण ही अनित्य हो, उत्पत्तिवाला हो, वह कार्य उत्पत्ति और नाश से रहित कैसे हो सकता है ? वे ज्ञानी इस संसार में किसी भी वस्तु को अविनाशी न देखकर, उसके पदार्थों के द्वारा अपना अमृत होने की कामना नहीं करते।

प्रश्न—आत्मा तो सदा नित्य है। यदि यह प्रकृति की कामना करे तो भी उसका नाश नहीं हो सकता। यदि आत्मा=आप आपको जान ले तो भी नाश नहीं हो सकता।

उत्तर—जब आत्मा प्रकृति की उपासना करता है, तब वह अपने-आपको शरीर समझ रहा होता है, जिससे सदा मृत्यु के भय में रहता हुआ दुःख पाता है। और शरीर चूंकि नाशवान् है, अतः आत्मा दास की भांति दिन रात उसकी रक्षा में लगा रहता है. इससे उसे स्वातन्त्र्य और आनन्द नहीं मिलता। जब अपना ध्यान करता है। अर्थात् अपने-आपको अविनाशी=अमृत आत्मा समझता है, तब मृत्यु के भय से रहित हो जाता है, उस समय उसको दुःख तथा मृत्यु का बन्धन व्याकुल नहीं करते। वह जानता है कि मैं मृत्यु रहित अमृत आत्मा हूँ। यह शरीर किराये की गाड़ी है, इसके नाश होने पर मेरी क्या हानि है ? ॥२॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥३॥

पदार्थ—(येन) जिससे (रूपम्) रूप को [जो आँखों का विषय है] (रसम्) रस को, स्वाद को, [जो रसनेन्द्रिय का विषय है] (गन्धम्) गन्ध को [जो नाक से अनुभव होती है] (शब्दान्) शब्दों को [जो कानों से सुने जाते हैं] (स्पर्शान्) स्पर्शों को [जो स्पर्शेन्द्रिय=त्वचा से ग्रहण किये जाते हैं , (च) और (मैथुनान्) मैथुन=भोगाभिलाषा को (एतेन) इससे (एव) ही (विजानाति) जानता है (किम्) अन्य क्या (अत्र) इस संसार में (परिशिष्यते) बच रहता है। (एतत्) यह आत्मा ही (वै) निश्चय करके, सचमुच (तत्) वह है।

भावार्थ—जिसके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और भोग भावना आदि को जानता है। वह परमात्मा है। जिस तरह आँख, यद्यपि रूप को देखने का कारण=साधन है, आँख के खुले रहने पर ही रूपवान् पदार्थ दिखाई देते हैं, आँख के बन्द हो जाने पर वे दृष्टिगोचर नहीं होते, तथापि आँख अपनी शक्ति से नहीं देखती। यदि सूर्य्य आदि का प्रकाश न हो तो खुली होने पर भी आँख नहीं देख सकती। अतः देखने का साधन केवल आँख ही नहीं है, वरन् उसके साथ सूर्य्य आदि का प्रकाश भी आवश्यक है। यदि सूर्य्य आदि का प्रकाश तथा आँख दोनों ही हों, किन्तु आँख का मन के साथ संन्निकर्ष= सम्बन्ध न हो तो रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे प्रायः देखने में आता है। कोई कहता है आपने अमुक पदार्थ देखा, वह उत्तर देता है, मेरा ध्यान नहीं था। इसलिये केवल सूर्य्यादि प्रकाश से सहकृत आँख ही रूप देखने का साधन नहीं है, वरन् आँख के साथ मन का संन्निकर्ष भी अवश्य होना चाहिये। आगे चलिये यदि मन का सम्बन्ध उस समय जीवात्मा से न हो, तो मन जड़= चेतनारहित ज्ञानशून्य पदार्थ है, वह किसी पदार्थ को नहीं जान सकता, वह तो कारण है। जैसे अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से अति सूक्ष्म पदार्थ को देख सकते हैं, किन्तु अणुवीक्षण यन्त्र स्वयं कुछ नहीं देख सकता। यही अवस्था मन की है। अतः मन भी ज्ञाता नहीं, वरन् ज्ञाता तो आत्मा है। किन्तु आत्मा मन आदि कारणों [इन्द्रियों] के विना किसी बाह्य पदार्थ—रूप आदि को नहीं जान सकता। जैसे फोटोग्राफर चित्र खींचता है, किन्तु यदि कैमरा Camera आदि चित्र खींचने के साधन न हों तो वह कुछ नहीं कर सकता ; ऐसे ही जीवात्मा शरीर रूप कैमरा, मन इन्द्रियादि रूप शीशों Lenses के बिना किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब= चित्र नहीं ले सकता। अतः फोटोग्राफर का कार्य्य कैमरा आदि उपकरण बनानेवाले के आधीन है। तात्पर्य्य यह कि जिसने शरीर रूपी कैमरा तथा मन इन्द्रियादि शीशे बना कर जीवात्मा को दिये हैं, वही परमात्मा इन रूप आदि के जानने का वास्तविक साधन है। जब जीवात्मा इस परमात्मा को जान जाये, तब फिर और कोई पदार्थ ज्ञेय=जानने योग्य नहीं रहता। अतः जानने का साधन परमात्मा है, उसीके जानने से सबका ज्ञान हो सकता है। उसको जाने बिना किसी पदार्थ की सत्ता का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या नास्तिक लोग आँख से नहीं देख सकते ?

उत्तर—देख तो अवश्य सकते हैं, क्योंकि परमात्मा ने उनको करण दिये हैं, किन्तु किसी पदार्थ का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकते। उदाहरणार्थ किसी नास्तिक की आँख में पीलिया रोग है। आँख को वह देख नहीं सकता। पीलिया रोग के कारण सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं। पदार्थ का रूप सुफ़ेद है, उसे पीला दिखाई दे रहा है। क्या यह यथार्थ ज्ञान है ?

प्रश्न—अपनी आँख को वह दर्पण के द्वारा देख लेगा। जब उसे अपनी आँख पीली दीखेगी तो उसको अपने रुग्ण होने का ज्ञान हो जायगा। सभी पदार्थों के पीला दीखने से वह विचार करेगा कि सभी पदार्थ तो पीले हो नहीं सकते। अतः मेरी आँख में रोग है।

उत्तर—आँख को शीशा भी पीला दिखाई देगा। जैसे जिसकी आँख में पीली नयनक=ऐनक लगी हो उसे सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं। इसका निर्णय कैसे हो सकेगा कि आँख के पीला होने से सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं या नयनक के पीला होने के कारण, अथवा पदार्थों के पीला होने से? यदि कहो कि नयनक उतारने से जब पदार्थ पीले दिखाई देने लगेंगे तो अपने आप विचार उत्पन्न हो जायेगा कि उनका पीला दिखना नयनक के पीला होने के कारण नहीं है। तब पदार्थों के पीला दिखने में आँखों का पीला होना कारण है या पदार्थों के पीला होने हेतु है यह सन्देह होगा। पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूप में दिखाई नहीं दे रहे क्योंकि आंख में दोष है। अतः नास्तिक किसी अवस्था में भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। चूंकि यह शास्त्रार्थ लम्बा है, अतः इसे यहाँ अधिक नहीं लिखते * ॥३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

पदार्थ—(स्वप्नान्तम्) सोने के अन्त में (जागरितान्तम्) जागने के अन्त में (च) और (उभौ) दोनों को (येन) जिसके द्वारा (अनुपश्यति) देखता है, (महान्तम्) सबसे महान्, श्रेष्ठ और सूक्ष्म (विभुम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) धीर पुरुष, वीर मनुष्य (न) नहीं (शोचति) शोक करता है, चिन्ता में पड़ता है।

भावार्थ—सोने के अन्त में अर्थात् प्रातःकाल और जागने के अन्त में अर्थात् सायंकाल तथा दोनों अवस्थाओं में जो परमात्मा को देखते हैं; जो ज्ञानीजन दोनों समय सन्ध्या में परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे सबसे सूक्ष्म अर्थात् जिसकी सीमा पाने में बुद्धि भी रह जाती है। बुद्धि में ही सबसे अधिक जानने की शक्ति है किन्तु परमात्मा को जानने में बुद्धि की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। सीमा दो प्रकार की होती है एक दैशिक=देशकृत दूसरी कालिक=कालकृत। सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा देश कृत सीमा से परे है [देश प्रकृति के रजोगुण का नाम है]। वह नित्य होने के कारण काल की सीमा से भी परे हैं + [काल भी प्रकृति के रजोगुण का नाम है] जब प्रकृति ही उसके एक अंश में है † तो देश काल जो प्रकृति से संबद्ध है किस प्रकार उसे व्याप सकते हैं? जो व्यापे नहीं वह सीमित कैसे कर सकता है? जो लोग परमात्मा को जान जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का दुःख, शोक नहीं होता।

प्रश्न—परमात्मा के जानने से दुःख शोक किस प्रकार भाग सकते हैं?

उत्तर—जो लोग परमात्मा को जानते हैं, उनको दृढ़ निश्चय होता है कि परमात्मा के सिवा मृत्यु किसी के हाथ में नहीं है; और नहीं कोई उसके नियम के विरुद्ध कष्ट ही दे सकता है; परमात्मा न्याय और दया के सिवा कुछ करता ही नहीं; न्याय और दया दोनों अच्छे हैं। न न्याय बुरा है, न दया*; पर-

*भाष्यकर का तात्पर्य्य यह है कि जगत् में कार्य्य कारण का नियम अटूट है, इसी कार्य्य कारण के नियम से विवश होकर चेतन कर्ता मानना पड़ता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ व्यवस्थित और सप्रयोजन रचना होती है, वहाँ चेतन कर्ता अवश्य होता है। इस नियम से जगत् के अन्तिम या आदिम अथवा मूल कर्ता को मानना पड़ता है। नास्तिकों का परमेश्वर को न मानकर कार्य्य कारण के नियम को न मानना महान् अज्ञान है। अतः नास्तिक यथार्थ ज्ञान से वञ्चित रह जाता है।

+ नित्येष्व भावादनित्येषु च भावात्कारणे कालाख्या (वै. द.)

† पादोऽस्य विश्वा भूतानि (यजु. ३१।) समस्त संसार उसके एक अंश में है।

* ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में सप्तम समुल्लास में दया और न्याय का बहुत सुन्दर विवेचन किया है। पाठकों के लाभार्थ उसको उद्धृत किया है।

आत्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। जो अच्छी बात

प्रश्न-- परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं ?

उत्तर - है।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं, जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं जो कर्म्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख दुःख पहुँचाना और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर – न्याय और दया का नाम मात्र का ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों। वही दया कहाती है। जो पराये दुःखों का छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाए तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक को छोड़ने से सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार हो सकती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर उसको पाप करने से बचाना, डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

देखो ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौनसी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सब को सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना है।

हो उसमें किसी को दुःख और शोक हो ही नहीं सकता। दुःख और शोक बुरी बातों में होता है। जब मनुष्य कोई बुरा कार्य्य करता है तब उसे शोक और दुःख घेरते हैं। जो कुछ पाप कर्म हमने किये हैं उनके बदले में हमें दुःख भोगना पड़ता है, इससे हमारे पापों का भार कम हो जाता है। दुःख से हम घबरायें भले ही, किन्तु वास्तव में वह हमारे अत्यन्त हितकर है, क्योंकि वह हमारे कर्मों का फल है और पापों का भी भार कम करता है ॥४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।एतद्वै तत्॥५

पदार्थ—(यः) जो ज्ञानी जन (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा को (वेद) जानता है (आत्मानम्) आत्मा को (जीवम्) जीव को (अन्तिकात्) समीप से (जीव के भीतर रहने और चेतन होने से वह इसके समीप है] (ईशानम्) स्वामी को (भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का। (न) नहीं (ततः) उस ज्ञान से (विजुगुप्सते) घृणा करते हैं, निन्दित होता है। (एतत) यही (वै) सचमुच (तत्) इस ज्ञान का फल है।

भावार्थ – जो मनुष्य इस कर्म्मफल भोगने वाले जीवात्मा को जानता है और जो यह समझता है कि जगत् की उत्पत्ति से न तो परमात्मा को कोई लाभ हो सकता है और न ही प्रकृति को। जीव ही जगत् में कर्म्मफल का भोगने वाला है। कर्म्मफल का दाता परमात्मा जीव के भीतर विराजमान है, चेतन होने के कारण वह परमात्मा का समीपवर्त्ती बन्धु तथा भूत भविष्यत् का स्वामी है ; उसे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर पछताना नहीं पड़ता। यही इस ज्ञान का फल है ॥५॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥
एतद्वै तत् ॥६॥

पदार्थ—(यः) जो ज्ञान प्रयत्न शक्तिवाला जीवात्मा (पूर्वम्) सृष्टि के आरम्भ में (तपसः) अग्नि से (जातम्) उत्पन्न (अद्भ्यः) प्राणः से (पूर्वम्) पूर्व (अजायत) प्रकट हुआ। (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविश्य) प्रदेश होकर (तिष्ठन्तम्) रहने वाले के साथ (यः) जो (भूतेभिः) पांच भूतों के साथ व्यापक (व्यपश्यत) उसी को अपने आत्मा में ध्यान करता है। (एतत्) यह (वै) सचमुच (तत्) उस ज्ञान का फल है।

भावार्थ—जो जीवात्मा सृष्टि के आरम्भ में, प्राण को, जो तेज से उत्पन्न होता है, साथ लेकर प्रकट होता है, क्योंकि प्राण के बिना जीवात्मा अपनी शक्ति तथा सत्ता का प्रकाश नहीं कर सकता है। जीवात्मा का लक्षण ही यह है कि वह चेतन स्वरूप अर्थात् स्वभाव से ज्ञानवाला है, और उसको बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होता है, किन्तु इस ज्ञान से उपयोग लेने के लिये भी इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। जिस परमात्मा ने जीवात्मा को अन्तःकरण आदि करणोपकरण [इन्द्रियें और उनके सहकारी] दिये हैं, जब जीवात्मा उसको अन्तःकरण तथा समस्त भूतों में उसको व्यापक देखता है तब उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है, कि पूर्वोक्त उपनिषद्वचनों में वर्णित फल को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—उपनिषद् में आये 'अद्भ्यः' पद का अर्थ 'जल से' होता है, तुमने इसका 'प्राणों से' कैसे किया?

उत्तर—शतपथ आदि ग्रन्थों में वर्णित है कि जल से प्राण उत्पन्न होते हैं और प्राणों से जीवात्मा की शक्ति तथा सत्ता का प्रकाश होता है।

प्रश्न—तप=अग्नि से प्राणोत्पत्ति में क्या प्रमाण है?

उत्तर—उपनिषत् में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अग्नि से जल उत्पन्न होता है। तैत्तिरीयोपनिषत् में लिखा है कि 'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी आदि आदि※'।

प्रश्न—आकाश नित्य है, वह आत्मा से कैसे उत्पन्न होता है?

तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एव पुरुषोऽन्नरसमयः।

अर्थात् उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश [जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है अर्थात् वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि आकाश के बिना प्रकृति के परमाणु कहां ठहरेंगे] आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य्य, वीर्य्य से शरीर, सो यह शरीर अन्न के सार से बनता है।

यहां आकाश से पृथिवी तक सृष्टि-क्रम का वर्णन है। उपादान कारणों का वर्णन नहीं। पृथिवी से औषधियों की उत्पत्ति के वर्णन में कार्य्य कारण भाव दिखाया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर प्राणों को जल, और अग्नि कहा गया है। इसका विशेष प्रयोजन है। जब तक प्राण शरीर में रहते हैं, तभी तक शरीर में अग्नि=जठरा जीवनशक्ति रहती है, शरीर की अग्नि का कारण होने से प्राणों को उपचार से अग्नि कह दिया जाता है। इसी प्रकार चूंकि जीवन का प्रमाण प्राण है। प्राणों का आ जा जब तक होता रहे तभी तक ही किसी को जीवित माना जाता है। उधर 'जलं जीवनमुच्यते' जल को जीवन कहते हैं। इस भाव से जल और प्राण पर्य्यायवाची हैं। प्राण भी शरीर में ओत प्रोत है, सब पदार्थों की अपेक्षा शरीर में जल अधिक होता है, इसी कारण उसे जीवन कहते हैं। यहां अद्भ्यः का अर्थ जल करने में एक विशेष हेतु है। जल अग्नि के पश्चात् उत्पन्न होता है। जो पदार्थ अग्नि से पूर्व विद्यमान है, वह जल से तो सुतरां पूर्व विद्यमान है ही, फिर उस जल से पूर्व विद्यमान कहना व्यर्थ-सा है। अतः 'अद्भ्यः' का अर्थ यहां 'प्राण' करना सुसंगत है।

※ तैत्तिरीययोपनिषत् की ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथमानुवाक से निम्नलिखित पाठ की ओर भाष्यकार का संकेत है—

उत्तर—आकाश के दो लक्षण हैं एक जिसके सहारे निकलना और प्रवेश होना हो* । दूसरा—खाली स्थान । यह दोनों आत्मा द्वारा प्रकृति को गति दिये बिना हो नहीं सकते, अतः इन लक्षणों के कारण उपचार से आकाश की उत्पत्ति कही गई है ॥६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै-तत् ॥७॥

पदार्थ—(या) जो (प्राणेन) प्राणों के निरोध=प्राणायाम से (सम्भवति) प्रकट होती है (अदितिः) अविनाशिनी, माता के समान सुख चाहने वाली (देवतामयी) ब्रह्म को जानने योग्य सूक्ष्म (गुहाम्) इस अन्तःकरण=मन में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर (तिष्ठन्तीम्) स्थिर प्रज्ञा को (या) जो (भूतेभिः) भौतिक शरीर के साथ (व्यजायत) पैदा होती है (एतत्) यह (वै) सचमुच (तत्) उस ब्रह्म को जान सकता है ।

भावार्थ— योग के यमादि अंगों के द्वारा ठीक-ठीक परिष्कृत और सूक्ष्म हुई बुद्धि सूक्ष्म ज्ञान को उत्पन्न करती है । अन्तःकरण युक्त इस बुद्धि से ही, जो इस भौतिक शरीर में उत्पन्न होती है ब्रह्म को जान सकते हैं ।

प्रश्न— क्या भौतिक शरीर के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार किसी वस्तु का चित्र (फोटो) लेने के लिये फोटोग्राफ़ का कैमरा बनाया जाता है, उस कैमरा में वही पदार्थ होते हैं, चित्र उतारने के लिये जिनकी अपेक्षा होती है । कैमरा के बिना फोटो नहीं खींच सकते । दर्पण के बिना अपने नेत्र और उसमें लगे अंजन को नहीं देख सकते । उसी प्रकार भौतिक शरीर के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता ।

प्रश्न—तो जो लोग शरीर की उपेक्षा करते हैं, वह बहुत बड़ी भूल करते हैं ?

उत्तर—शरीर किराया की गाड़ी है । उद्दिष्ट स्थान पर जाने के लिये गाड़ी आवश्यक है और उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाने पर गाड़ी का छोड़ देना भी आवश्यक है । रही गाड़ी की सार संभाल की चिन्ता, सो उसके स्वामी को होनी चाहिये । किरायेदार को तो उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का ध्यान होना चाहिये । अतः जो लोग बुद्धिमान् हैं वे गाड़ी की उपेक्षा करके आत्मा का ध्यान करते हैं, उसकी सार संभाल करते हैं । ॥७॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥८॥

पदार्थ—(अरण्योः) दो लकड़ियों के बीच (निहितः) रहनेवाला (जातवेदाः) अग्नि, (गर्भः+इव) गर्भ की भांति (सुभृतः) अच्छी तरह धारण किया हुआ (गर्भिणीभिः) गर्भिणियों के द्वारा, (दिवे+दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति के योग्य है (जागृवद्भिः) जागरूक, सावधान, सत्वगुणयुक्त प्रकाशमयी बुद्धि वाले (हविष्मद्भिः) ईश्वर के ज्ञान ध्यान से रत ज्ञानी (मनुष्येभिः) मनुष्यों से (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । (एतत्+वै+तत्) यही ब्रह्मज्ञान का साधन है ।

भावार्थ – जिस प्रकार दो लकड़ियों को ऊपर-नीचे रखकर रगड़ने से आग निकलती है, यद्यपि रगड़ने से पूर्व लकड़ियों में आग प्रतीत नहीं होती । जैसे गर्भवती से बालक उत्पन्न होता है, यद्यपि उत्पन्न होने से पूर्व वह दिखाई नहीं देता । ऐसे ही सत्वगुणी मनुष्य जिनकी बुद्धि सूक्ष्म और स्वच्छ है, जिनके आचरण उन्नतिकारक हैं, प्रतिदिन परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

* निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् (वै० द० २।१।२०) निष्क्रमण=निकलना और प्रवेश होना आकाश का लिंग=पहिचान=लक्षण है ।

प्रश्न—क्या परमात्मा चाटुप्रिय है जो स्तुति से प्रसन्न होता है।

उत्तर—स्तुति का अर्थ चाटु (खुशामद) करना नहीं है। स्तुति का अर्थ है गुणों को ठीक-ठीक जान कर कथन करना। जिसके गुणों को जानकर हम कथन करते हैं उससे मन को प्रीति होती है।

प्रश्न—हम प्रार्थना क्यों करें, क्या जिस वस्तु के लिये हम प्रार्थना करेंगे, परमात्मा हमको वह दे देंगे। यदि नहीं देंगे, तो प्रार्थना व्यर्थ है।

उत्तर—प्रार्थना के तीन फल हैं—प्रथम—अभिमान का नाश, दूसरा—इष्ट का ज्ञान, तीसरा—इष्ट प्राप्ति के साधन का ज्ञान। जब ये तीन चीजें प्राप्त होती हैं तो प्रार्थना व्यर्थ कैसे ?

प्रश्न—प्रार्थना करने से अभिमान का नाश क्योंकर होता है।

उत्तर - प्रार्थना का अर्थ है मांगना। जब तक किसी को प्राप्ति का निश्चय हो, प्रायः वह मांगता नहीं। जब उसे यह निश्चय हो जाय कि मैं अपने सामर्थ्य से इसे प्राप्त नहीं कर सकता, तभी मांगता है। अब अपने असामर्थ्य का, अशक्ति का, ज्ञान हो गया, तब अभिमान कहाँ रहा ?

प्रश्न—उपासना का क्या फल है ?

उत्तर—जिसके गुणों को प्राप्त करना हो, उसकी उपासन की जाती है, जैसे शीत की प्राप्ति के लिये पानी की उपासना की जाती है और गरमी लेने के लिये अग्नि की। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। जिसके समीप बैठेंगे उसके गुण अवश्य आयेंगे। आनन्दमय ब्रह्म के आनन्द गुण को प्राप्त करने के लिये ब्रह्म की उपासना की जाती है ॥८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तन्देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥९॥

पदार्थ—(यतः) जिसके प्रबन्ध से (च) ही (उदेति) उदय होता है (सूर्य्यः) सूर्य्य (अस्तम्) अस्त को (यत्र) जिसके नियम में (च) और (गच्छति) प्राप्त होता है (तम्) उस परमात्मा के (देवाः) परीक्षक, सत्यासत्य का विवेक करने वाले विद्वान्, अथवा प्रकाशादि देने वाले सूर्य्य आदि (सर्वे) सब (अर्पिताः) आश्रित हैं, अर्थात् अपना-अपना बल उसीसे प्राप्त करते हैं, वह बलदा है। (तत्) उसके (उ) तो (न) नहीं (अत्येति) नियम का उल्लंघन कर सकता है (कश्चन) कोई, सूर्य्यादि या मनुष्य। (एतत्+वै+तत्) निश्चय करके ही उसकी शक्ति है।

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियम से सूर्य्य उदय और अस्त होता है अर्थात् जहाँ जिस समय जिस तिथि को उदय की व्यवस्था है, उसी समय सूर्य्य उदय होगा, इसी भांति अस्त होने की जो व्यवस्था है, वैसे ही अस्त होगा। परमात्मा ने इन समस्त देवों को शक्ति दी है, उसकी शक्ति से ये सब कार्य्य करते हैं। किसी ज्ञानी जन या सूर्य्य आदि में यह सामर्थ्य नहीं कि वह परमात्मा के नियम को तोड़ सके। यह उसका सामर्थ्य है कि कोई उसके विधान का उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके आदेश के विरुद्ध चल कर पापी तो बन सकते हैं किन्तु उसके नियम के विरुद्ध नहीं चल सकते।

प्रश्न—बहुत से साधु महात्मा सिद्ध ऐसे कार्य्य कर दिखाते हैं, जो परमात्मा के नियम के विरुद्ध होते हैं, उनको चमत्कार कहा जाता है। जैसे मूसा की लाठी सांप बन गई, मुहम्मद साहब ने चन्द्र के दो खण्ड कर दिये, इत्यादि-इत्यादि।

उत्तर—परमात्मा के नियम के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। चमत्कार दो प्रकार की बातों को लेकर बना करते हैं, एक पदार्थ विद्या की बातों से, जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते। जब कोई विद्वान्, साधु ब्राह्मण ऐसी बात कर दिखाता है तो लोग उसे चमत्कारी, सिद्ध कहने लगते हैं। पुराने समय में जब दियासलाई का चलन नहीं था, प्रायः

ब्राह्मण फ़ासफोरस के चावल बना रखते थे, जब अग्नि की आवश्यकता होती उनको लकड़ियों पर मारते, संघर्ष से=रगड़ से, फासफोरस जल उठता। मूर्ख उनको चमत्कारी मानने लगते। दूसरे गप्प, जो चेले अपने गुरु का गौरव बढ़ाने के लिये हांका करते हैं ॥९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।१०।

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (एव) ही (इह) इस जन्म में (तत्) वही ब्रह्म (अमुत्र) अगले जन्म में [प्रकाशै करने वाला है] (यत्) जो (अमुत्र) अगले जन्म में होगा (तत्) वह (अनु) अनुकूलता से (इह , इस जन्म में। (मृत्योः) मौत से (सः) वह (मृत्युम्) मौत को (आप्नोति) प्राप्त करना है (यः) जो (इह) आत्मा के अन्दर (नाना) एक से अधिक (इव) स (पश्यति) देखता है।

भावार्थ—जैसा परमात्मा इस जन्म में है. ऐसा ही हमें अगले जन्म में प्रतीत होगा, एक रस होने के कारण जैसा अगले जन्म में होगा, वैसा ही इस जन्म में भासेगा। वह मनुष्य पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त करता है जो इस आत्मा के भीतर नाना पदार्थों को देखता है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ आत्मा से अधिक सूक्ष्म नहीं है और स्थूल पदार्थ सूक्ष्म के अन्दर प्रवेश पा नहीं सकता। जो आत्मा के भीतर नाना पदार्थों की सत्ता मानता है, उसने आत्मा को जाना ही नहीं। वह किसी अन्य वस्तु को आत्मा मान रहा है जिसके भीतर उसे बहुत से पदार्थ दीखते हैं, अन्यथा आत्मा के भीतर कोई अन्य पदार्थ प्रविष्ट नहीं हो सकता। यदि किसी अन्य पदार्थ को आत्मा समझ लिया, तो यह अविद्या है। जिसे अविद्या ने घेर रखा हो उसका पुनः पुनः जन्म मरण अनिवार्य है।

प्रश्न—अन्य लोग तो 'इह' पद के अर्थ 'इस स्थान में' करते हैं कि जो इस संसार में एक से अधिक पदार्थों को मानता है। तुम 'आत्मा के भीतर' किस प्रकार करते हो?

उत्तर—इस वल्ली के प्रथम वाक्य से ही यह प्रकरण चल रहा है कि वह बाहर की ओर देखता है भीतर की ओर नहीं, अतः 'इह' से तात्पर्य्य 'आत्मा के भीतर' से ही है ॥१०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।११।

पदार्थ—(मनसा) मन के द्वारा (एव) ही (इदम्) इस आत्मा को (आप्तव्यम्) प्राप्त करना चाहिये (न) नहीं इस आत्मा के भीतर (नाना) एक से अधिक (अस्ति) है (किंचन) कुछ भी। (मृत्योः) मौत से (सः) वह (मृत्युम्) मौत को (आप्नोति) प्राप्त करता है (यः) जो (इह) आत्मा के भीतर (नाना) एक से अधिक (इव) ही (पश्यति) देखता है।

भावार्थ—वह परमात्मा मन से जाना जाता है। परमात्मा और आत्मा के दर्शन का उपाय मन के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। आत्मा के भीतर परमात्मा के सिवा और कोई पदार्थ नहीं है। जो आत्मा में एक परमात्मा के अतिरिक्त नाना पदार्थों को देखता है, वह पुनः पुनः जन्म मरण के क्लेश को भोगता है।

प्रश्न—केनोपनिषत् में तो यह कहा है कि वह परमात्मा मनन नहीं किया जा सकता, वरन् मन उसकी शक्ति से विचार करता है*। आप कहते हैं, परमात्मा मन से जाना जाता है।

उत्तर—मन की दो अवस्थायें हो सकती हैं एक मलविक्षेपआवरण दोषों से युक्त, दूसरी इन दोषों से रहित। इन दोषों से युक्त मन के द्वारा परमात्मा को नहीं जान सकते। इन दोषों से रहित, शुद्ध मन के द्वारा परमात्मा जाना जाता है। जैसे आँख और उसमें लगे अञ्जन को जानने के लिये दर्पण एक साधन है, दर्पण के विना आँख और उसमें लगे अञ्जन को नहीं देख सकते, किन्तु अन्धेरी रात्रि में दर्पण से

* यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।५॥

भी आँख और उसमें लगे अञ्जन को नहीं देख सकते, अथवा जब दर्पण स्वच्छ न हो, मलिन हो, अथवा जब दर्पण टिका हुआ न हो, हिल-जुल रहा हो, अस्थिर हो, वेग से गति कर रहा हो अथवा दर्पण पर कोई आवरण=परदा पड़ा हो, तब भी दर्पण के द्वारा आँख और उसमें लगा अञ्जन दिखाई नहीं देता, ऐसे ही जब मन ज्ञान शून्य हो, पाप वासनाओं से मलिन हो, काम क्रोध आदि के कारण चञ्चल हो रहा हो, विक्षिप्त हो, या उस पर अविद्या का आवरण पड़ा हो, तब उसके द्वारा आत्मा को परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते॥ ११॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥१२॥

पदार्थ—(अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ=हृदय में दर्शनीय [अंगूठे के बराबर हृदयाकाश है जिसमें जीवात्मा को परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं] (पुरुषः) परमात्मा (आत्मनि+मध्ये) जीवात्मा के भीतर (तिष्ठति) रहता है। (ईशानः) स्वामी, प्रबन्ध व्यवस्था करने वाला (भूत भव्यस्य) अतीत और अनागत का (न) नहीं (ततः) उससे (विजुगुप्सते) दुरवस्था को प्राप्त करता। (एतद्वै तत्) यह वही ब्रह्म है, जिसके सम्बन्ध में तुमने प्रश्न किया था।

भावार्थ—मनुष्य के हृदय में अंगूठे के बराबर एक स्थान है यहीं पर जीवात्मा के भीतर परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। यह परमात्मा भूत और भविष्यत् का अधिष्ठाता है; उसको जान लेने के बाद मनुष्य को यह अवस्था पुनः प्राप्त नहीं होती, जिस में अपने से ग्लानि हो, घृणा हो। पाप करने के बाद जब पाप-वासना का वेग कम हो जाता है तो प्रायः मनुष्य को अपने कुकर्म से घृणा होती है और यह अपने चित्त में अपने पापी जीवन पर दुःखित होता है। किन्तु जो लोग परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे पाप नहीं कर सकते। पाप उसी समय तक हो सकता है जब तक दण्डदाता की सत्ता का विश्वास न हो। मनुष्य तीन अवस्थाओं में पाप कर सकता है—१. या तो परमात्मा की सत्ता का विश्वास ही न हो, वाचिक रूप में ही उसे मानता हो, २. या परमात्मा को परिच्छिन्न=एक देशी=एक स्थान पर रहने वाला मानने से उसके सर्वत्र होने का विश्वास या निश्चय न हो, ३. या उस दशा में जब हमें किसी ऐसी सत्ता का विश्वास हो जो पाप करने के बाद हमें पाप फल से बचा सकती हो।

प्रश्न—क्या जीवात्मा और परमात्मा अंगूठे के बराबर हैं, जैसा कि उपनिषद्वचन से प्रतीत होता है?

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा अंगूठे के बराबर नहीं हैं, वरन् वह स्थान जहाँ इनके दर्शन हो सकते हैं, वह हृदयाकाश अंगूठे के बराबर है ॥१२॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥१३॥

पदार्थ—(अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठ के बराबर स्थान [हृदयाकाश] में दीखने वाला (पुरुषः) जीवात्मा तथा परमात्मा (ज्योतिः+इव) ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित, प्रकाश के समान (अधूमकः) धूमरहित (ईशानः) स्वामी, सच्चा अधिष्ठाता (भूत भव्यस्य) भूत भविष्यत् के समस्त पदार्थों का। (सः+एव+अद्य) वही आज भी समस्त जगत् का स्वामी है। (सः+उ+श्वः) वही कल भी स्वामी होगा। (एतत्+वै तत्) यही वह ब्रह्म है।

भावार्थ—अंगूठे के बराबर स्थान [हृदयाकाश] में दर्शनीय पुरुष=जीवात्मा तथा परमात्मा ऐसी ज्योति=प्रकाश है, जिनको धुँआँ कभी भी नहीं ढांप सकता। उसमें किसी प्रकार का मल नहीं है। वह अतीत तथा अनागत सभी पदार्थों का स्वामी है। न तो पहले कोई ऐसी वस्तु हुई है, जिसका वह स्वामी न हो; और न आगे कोई ऐसी वस्तु होगी जिस पर उसका अधिकार न हो। वही सारी सृष्टि का स्वामी है। बड़े से बड़े राजा-महाराजा चक्रवर्ती सम्राट्

उसके वारण्ट मृत्यु—को नहीं टाल सकते। घोर से घोर नास्तिक को उसके नियम के आगे सिर झुकाना पड़ता है। वह सब पदार्थों पर शासन करता है। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जो उसके नियम से नियन्त्रित न हो। सूर्य्य, चन्द्र, तारे उसके नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। वायु, अग्नि, जल उसके नियम के विरुद्ध नहीं चल सकते। पृथिवी पर के बड़े-बड़े मल्ल (पहलवान) अपने बाहुबल से उसके वारण्ट—मृत्यु को नहीं रोक सकते। बड़े-बड़े अभिमानी अपने कर्मों के भले-बुरे फल पाने को विवश हो उसके द्वार पर भटकते हैं। यह वह ब्रह्म है जो सारे ब्रह्माण्ड को चला रहा है ॥१३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यँस्तानेवानु विधावति ॥१४॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल (दुर्गे) दुर्ग, दुर्गम स्थान में (वृष्टम्) बरसा हुआ (पर्वतेषु) पर्वतों में (विधावति) दौड़ता है, तेजी से बहता है (एवम्) इसी भाँति (धर्म्मान्) धर्म्मों को, गुणों को (पृथक्) धर्मी से, गुणी से पृथक् (पश्यन्) देखने वाला (तान्) उन गुणों के (एव) ही (विधावति) पीछे लग जाता है।

भावार्थ—जैसे पर्वत के दुर्गम शिखरों पर बरसा जल पर्वत में ही वह निकलता है। यद्यपि अन्यत्र बरसा है तथापि अपने नीचगामी स्वभाव के कारण, दूसरे पर्वतों पर नहीं, वरन् नीचे समतल भूमि में वह निकलता है, ऐसे ही जो मनुष्य किसी वस्तु के धर्म्मों को उससे पृथक् देखता है, वह भी उन्हीं धर्म्मों के पीछे दौड़ता है। तात्पर्य यह है धर्म्म और धर्मी का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहां धर्म्म है वहां धर्मी अवश्य होगा, जहां धर्मी होगा वहां धर्म्म अवश्य होगा। जड़=अचेतन प्रकृति का धर्म्म=स्वभाव बांधना है। चाहे हम स्वतन्त्रता के विचार से ही प्रकृति को समीप लायें तो भी वह बांधेगी। परमात्मा की उपासना अज्ञान से क्यों न की जाय, उससे आनन्द अवश्य मिलेगा। जिस वस्तु का जो धर्म्म है, वह उससे पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः जहां पाप है वहां भय है। जो पापी नहीं उसे भय नहीं हो सकता। जिस गुण को हम प्राप्त करना चाहें, उस गुण के गुणी की उपासना करें। मूर्ख, शराबी, मांसाहारी, दुराचारी गुरु की संगति से हमें ज्ञान और सदाचार नहीं मिल सकता ॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल (शुद्धे) शुद्ध वस्तु में (शुद्धम्) शुद्ध पवित्र, मलरहित (आसिक्तम्) सींचा हुआ (तादृग्) उसी प्रकार का (एव) ही (भवति) होता है। (एवम्) वैसे (मुनेः) कम बोलने वाले (विजानतः) ज्ञानी मनुष्य का (आत्मा) आत्मा (भवति) होता है। हे (गौतम) गौतमगोत्रोत्पन्न नचिकेतः!

भावार्थ—जैसे शुद्ध जल शुद्ध स्थान पर सींचने से शुद्ध ही रहता है। उसमें कहीं से आकर मल नहीं मिलता। इसी प्रकार जो मितभाषी ज्ञानसपन्न, जितेन्द्रिय मनुष्य मन इन्द्रियादि के दास न बन कर उनसे ठीक-ठीक कार्य्य लेते हैं, हे नचिकेतः! वे पूर्ण योगी शुद्धात्मा हैं। उनको संकीर्ण-हृदयता आदि दोष और अहंकार, जिनसे सभी मनुष्य व्याकुल रहते हैं, आकर नहीं सताते। ये सब दोष तभी तक होते हैं जब तक मन और इन्द्रियों के पीछे लग कर आत्मा बाहर की ओर देखता रहता है, और प्राकृतिक विषयों में फंस कर अपने मन में अपने आपको परतन्त्र समझता है। आत्मा को कोई क्लेश नहीं हो सकता। क्योंकि वह नित्य है और प्रकृति से सूक्ष्म है। नित्य होने से उसे नाश होने का भय नहीं। और प्रकृति की अपेक्षा सूक्ष्म होने से प्रकृति का परतन्त्रता गुण उसमें संक्रान्त नहीं हो सकता। परतन्त्रता=दुःख मन में होता है। अविद्या के कारण आत्मा उसको अपने में मान लेता है, जैसे किसी का कलकत्ता नगर का मकान जल जाए, तो सूचना मिलने पर वह अहंकार के कारण कहता है—हाय मेरा सत्यानाश हो गया। यद्यपि उसका

कुछ भी नहीं बिगड़ा, यदि जिस मकान में वह रहता है, उसको आग लगती, तो कथंचित कह सकते थे कि कुछ हानि हुई, क्योंकि अब रहने में कष्ट की संभावना है। मकान जला कलकत्ता में, रहता है लाहौर में, फिर कलकत्ता वाले मकान के जलने से उसे क्या कष्ट। किन्तु मन शुद्ध होने की दशा में आत्मा बाहर की ओर नहीं देखता, क्योंकि उसे उस समय भीतर का दृश्य दिखाई दे रहा है। मन के मलिन होने की दशा में अन्दर तो कुछ दिखाई देता नहीं, अतः बाहर ही देखता है, इन्द्रियों को बाहर की ओर चलाता और दुःख पाता है अतः निष्काम परोपकार के द्वारा मन को शुद्ध करना चाहिये।

कठोपनिषत् की चतुर्थी वल्ली समाप्त।

अथ पंचमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्र चेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत् ॥१॥

पदार्थ—(पुरम्) नगर, भोगाधिष्ठान शरीर (एकादशद्वारम्) ग्यारह द्वारों वाला (अजस्य) कारणशून्य, अजन्मा, नित्य जीवात्मा का (अवक्रचेतसः) उलटे ज्ञान से रहित (अनुष्ठाय) अपने कर्त्तव्य का उचित रीति से पालन करके (न) नहीं (शोचति) शोक करता या दुःख पाता। (विमुक्तः) तीन आश्रमों के तीन ऋणों से मुक्त हुआ (च) और (विमुच्यते) शरीर से भी छूट जाता है। (एतत्+वै+तत् (यही ब्रह्मज्ञान का फल है।

भावार्थ—मनुष्य शरीर में दो नेत्र, दो कान, दो नासिकायें एक मुख, एक मस्तिष्क=तालु=ब्रह्मरन्ध्र, एक नाभि, एक पायु=मल त्यागने की इन्द्रिय और एक मूत्रेन्द्रिय—ये ग्यारह द्वार हैं। ग्यारह द्वारों वाले इस नगर में यह जीवात्मा राज्य करता है। यदि जीवात्मा का ज्ञान मिथ्या या उलटा न हो अथवा यह अविद्या में फँसा हुआ न हो तो अपने वर्णाश्रम के धर्म्मों का ठीक ठीक पालन करने से शोक को प्राप्त नहीं करता, वरन् सब प्रकार के ऋणों † से छूट जाता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने के बाद संन्यासाश्रम के धर्म्म पालन करने से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस जन्म में जिसका ज्ञान उलटा हो उसके लिये यह राजधानी कारागार=जेलखाना बन जाती है क्योंकि उस दशा में जीव, शरीर इन्द्रियों और मन पर शासन करने के स्थान में उलटा इनके अधीन हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का फल यह है कि जीवात्मा इस शरीर को राजधानी बना लेता है। ब्रह्मज्ञानी को इस शरीर से किसी प्रकार कष्ट नहीं होता क्योंकि शरीरादि सब उसके अधीन होते हैं। अज्ञानी के लिए शरीर इन्द्रिय और मन सभी दुःखदायी होते हैं क्योंकि वे उस पर शासन करते हैं। बात स्पष्ट है मनुष्य घोड़े पर सवार हो, घोड़ा उसके वश में हो, तो वह सुविधा से उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है; यदि घोड़ा वश में न हो, तो पग पग पर गिरने का भय बना रहता है। प्रकृति की उपासना से जीव का ज्ञान उलटा होता है, उससे अविद्या उत्पन्न होकर उसके दुःख का

---

† शास्त्र कहते हैं जब कोई मनुष्य गृहस्थ बनता है उसपर तीन ऋण हो जाते हैं। एक ऋषि ऋण जो विद्यादान देने से उतरता है, दूसरा देव ऋण जो यज्ञ=अग्निहोत्रादि करने से दूर होता है, तीसरा पितृ ऋण जो संसार में अपना योग्य प्रतिनिधि पुत्र या शिष्य के रूप में छोड़ जाने से दूर होता है।

कारण बनती है। ब्रह्म की उपासना से जीव का ज्ञान यथार्थ होता है, इससे आनन्द भोगता है।

प्रश्न—इस समय तो जो लोग प्रकृति की उपासना कर रहे हैं अर्थात् भौतिक पदार्थ विद्या के पण्डित हैं, अधिक सुखी दीखते हैं।

उत्तर—दूर से ही सुखी दीखते हैं। उनसे मिलो तो वे आपको शान्त नहीं दीखेंगे समस्त योरुप शान्ति-प्राप्ति की चिन्ता में है किन्तु प्रकृति पूजा के कारण योरुप को शान्ति नहीं मिल रही। इंगलैंड में स्त्रियों के उपद्रव, फ्रांस में बलवे, रूस में निहिलिस्ट लोगों का संघर्ष बता रहे हैं कि वहाँ शान्ति और सुख का नाम भी नहीं। शरीर की स्वतन्त्रता दूर की बात रही, वासनाओं से छुटकारा पाना कठिन हो रहा है। शारीरिक आवश्यकताओं के बन्धन से तो मुक्त नहीं हो सके, उलटे अतृप्ति के कारण तृष्णा के बन्धन में पड़ गये* ॥१॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

पदार्थ—(हंसः) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाने वाला जीवात्मा (शुचिषत्) शुद्ध परमात्मा में रहने वाला (वसुः) शरीर में बसने वाला (अन्तरिक्षसत्) अन्तरिक्ष = शरीरस्थ हृदयाकाश में प्राप्त होने वाला (होता) हवन करने वाला (वेदिषत्) पृथ्वी में रहने वाला (अतिथिः) जिसके आने जाने या शरीर में रहने की तिथि निश्चित नहीं प्रतीत होती, (दुरोणसत्) अपने गृह या आश्रम में रहने वाला (नृषत्) मानव देह में रहने वाला (वरसत्) देवर्षियों के शरीर में रहने वाला (ऋतसत्) सत्य ब्रह्म में रहने वाला अर्थात् ब्रह्मज्ञान में तत्पर (व्योमसत्) आकाश में रहने वाला (अब्जाः) जलीय शरीर में रहने वाला (गोजाः) पार्थिव शरीर में रहने वाला (ऋतजाः) स्वाभाविक अवस्था में रहने वाला (अद्रिजाः) पर्वतीय योनियों में उत्पन्न होने वाला (ऋतम्) स्वयं भी सत्स्वरूप अर्थात् नित्य (बृहत्) बड़े ऊँचे विचार वाला।

भावार्थ—यह जीवात्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को जाने वाला है, जिस की स्थिति शुद्ध परमात्मा में ही जाकर हो सकती है, बाहर की कोई वस्तु उसे आश्रय नहीं दे सकती। यह चींटी से मनुष्य पर्य्यन्त के सभी शरीरों में जाने वाला है। इसका दर्शन शरीर के भीतर हृदयाकाश में ही हो सकता है। यह यज्ञ आदि कर्म्मों का करने वाला और शरीर रूपी भूमि में रहने वाला है। शरीर में आनेकी, इसकी कोई तिथि नियत नहीं प्रतीत होती। यह किसी न किसी शरीर में रहने वाला, मुक्ति के लिये केवल मनुष्य शरीर को धारण करने वाला, मुक्ति से लौट कर देवर्षियों के शरीर में आने वाला, नित्यज्ञान के सहारे ब्रह्म में स्थित होने वाला, ज्ञान न होने से जलीय जन्तुओं, पार्थिव आदि प्राणियों के शरीरों को धारण करने वाला, परमात्मा के नियम से शरीर युक्त होने वाला, पर्वतीय प्राणियों की दशा में उत्पन्न होने वाला होता हुआ भी वास्तव में सब विकारों से पृथक् है। ये सब योनियां जीव के लिये उपाधियां हैं, वह अहङ्कार के कारण इनमें सुख दुःख मानता है। बाह्य प्रभाव उसमें प्रविष्ट नहीं होता। जब उसको अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, तब सर्वतोमहान् भगवान् हो उसका उद्देश्य हो जाता है अर्थात् ज्ञान और अज्ञान के कारण जीवात्मा की अवस्थाओं में भेद

* आज तो योरुप में अशान्ति की आग लग रही है। योरुप के कारण इस समस्त भूमण्डल पर युद्ध, नरहत्या के कारण कितना अनर्थ हो रहा है, इस का वर्णन कौन कर सकता है। कोई भी देश इससे अछूता नहीं रहा। योरुप का विज्ञान इस समय संसार के संहार में लगा है। इस विज्ञान से कदाचित् विज्ञान का न होना ही अच्छा है।

इस सारे उपद्रव का कारण दरिद्रता है। योरुप दरिद्र है। 'को हि दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला'=कौन दरिद्र है, जिसको तृष्णा=लालच अधिक है। योरुप का लालच समाप्त होने में नहीं आता, अतः परस्पर संघर्ष बना ही रहता है।

होता है। ज्ञान के कारण वह उत्तम दशा में होता है, अज्ञान के कारण अधम दशा में होता है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा अधम दशा से बचकर उत्तम दशा को प्राप्त करता है ॥२॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

पदार्थ—(ऊर्ध्वम्) ऊपर=ब्रह्मरन्ध्र में = सिर की खोपड़ी में (प्राणम्) प्राण वायु को (उन्नयति) उठा ले जाता या खींचता है (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) उलटा, पेट में (अस्यति) फेंकता है। (मध्ये) नाभि और कण्ठ के मध्य में (वामनम्) शुद्ध चेतन उत्तम गुणों वाले जीवात्मा को (आसीनम्) बैठे हुए (विश्वे देवाः) जगत् को प्रकाशित करने वाले देव, अथवा इन्द्रियाँ (उपासते) सेवन करते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य प्राणवायु को ऊपर की ओर गति देता है अर्थात् प्राणवायु को रोकता है, वह उन्नति करता है। इसी प्रकार वह भी उन्नति करता है जो वेग से प्राणों को बाहर फेंकता और अपान वायु को बलपूर्वक नीचे ले जाता है, और कण्ठ और नाभि के मध्य हृदयाकाश में रहने वाले जीवात्मा के दर्शन करता है। जीवात्मा प्रकृति से अधिक गुणों वाला है। प्रकृति 'सत्' है जीवात्मा सत् और चित्=सच्चित् है। वह सब इन्द्रियों का राजा है। जिस प्रकार समस्त प्रजा योग्य राजा के शासन का पालन करती है, ऐसे ही सब इन्द्रियां प्रायायाम के अभ्यासी के आदेश में=शासन में, रहती हैं। जो मनुष्य प्राणों को, जो इन्द्रियों को वश में करने के साधन हैं, वश में नहीं लाते, उनकी इन्द्रियां वश में नहीं रहतीं।

प्रश्न—प्राणों को रोकने से इन्द्रियों का वश में होना कैसे माना जाये ?

उत्तर—इन्द्रियां मन के अधीन कार्य्य करती हैं, जिस ओर इन्द्रियों को लगाता है, उसी ओर इन्द्रियां काम करती हैं। मन रुधिर संचार से गति करता है, यदि रुधिर संचार न हो तो मन गति कर ही नहीं सकता। और रुधिर संचार प्राणों के प्रचार=गति के कारण होता है। यदि प्राण गति न करें तो शरीर में किसी प्रकार की चेष्टा नहीं हो सकती।

प्रश्न—प्राण की गति तो सुषुप्ति दशा में भी बनी रहती है उस दशा में मन और इन्द्रियां क्यों कार्य नहीं करतीं ?

उत्तर—मनुष्य का शरीर फोटोग्राफ़र का कैमरा है, जिसका अन्दर का शीशा मन है और बाहर का शीशा इन्द्रियां है। यदि दोनों शीशों के बीच कागज का भी परदा लगा दिया जाये तो चित्र नहीं बनेगा। ऐसे ही सुषुप्ति दशा में मन और इन्द्रियों के बीच में तमोगुण का आवरण आ जाता है, अतः इन्द्रियों का कार्य्य बन्द हो जाता है। किन्तु कर्म्मेन्द्रियों का कार्य बन्द नहीं होता, केवल ज्ञानेन्द्रियों का काम बन्द होता है।

प्रश्न—फिर यह नियम तो न रहा कि प्राणों के रोकने से ही इन्द्रियां रुकती हैं, क्योंकि इन्द्रियां और तरह भी रुक सकती हैं।

उत्तर—यह नियम तो है कि इन्द्रियां तभी गति करेंगी जब प्राण गति करेंगे। इन्द्रियों की गति प्राणों की गति के बिना नहीं दीखती। किन्तु यह नियम नहीं कि जब प्राण गति करें, तब इन्द्रियां अवश्य गति करें।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै-तत् ॥ ४ ॥

पदार्थ- (अस्य) इस (विस्रंसमानस्य) पृथक् होने वाले (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) जीवात्मा का (देहात्) शरीर से (विमुच्यमानस्य) शरीर से छूटते हुए (किम्) क्या (अत्र) यहाँ (परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतत्+वै+तत्) यह वही है।

भावार्थ—यह शरीर संयोग से बना है, अतः इसके अवयवों का पृथक् पृथक् हो जाना अनिवार्य है। जो पदार्थ

उत्पन्न होता है, उसका नाश होना अवश्यंभावी है। इसी प्रकार आत्मा का भी इस देह से वियोग आवश्यक है। जब शरीर में रहने वाला जीवात्मा इस शरीर को त्याग देता है, तब शरीर में क्या शेष रह जाता है? ऋषि इसका उत्तर देते हैं, कि यह जीवात्मा है जो इस शरीर के नाश के साथ नष्ट नहीं होता।

प्रश्न—जब शरीर का नाश हो गया, तो जीव का नाश क्यों नहीं होता?

उत्तर—नाश का अर्थ है कारण में, लीन होना या अवयवों का पृथक् होना। जैसे गृह इंटों के संयोग से बना है, मकान का नाश क्या है? इंटों का अलग अलग हो जाना। जो पदार्थ संयोग से बनेगा, वह अवश्य विभाग द्वारा नष्ट होगा। किन्तु जीवात्मा के अवयव नहीं हैं, न ही वह संयोग से बना है। उसका कोई कारण ही नहीं है, जब उसका कारण ही नहीं तो वह किस में लीन होवे। जब उसका किसी में लय ही नहीं होता, तो उसका नाश कैसे माना जा सकता है।

प्रश्न—कई लोग यह कहते हैं कि शरीर के नाश के पीछे ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

उत्तर—ब्रह्म तो प्रत्येक नाशवान् पदार्थ के नाश के पश्चात् रह ही जाता है। अतः शरीर नाश के पश्चात् भी ब्रह्म रह ही जाता है, इसके यथार्थ होने में कोई सन्देह नहीं। जो वस्तु उत्पन्न होगी, वह अवश्य नष्ट होगी। जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं, दोनों शरीर के नाश के पीछे भी बने रहते हैं, अतः दोनों अर्थ ठीक हैं ॥४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

पदार्थ—(न) नहीं (प्राणेन) प्राण से (न) न ही (अपानेन) अपान से (मर्त्यः) मरणधर्मा शरीर और जीव का संयोगी शरीर (जीवति) जीता है (कश्चन) कोई (इतरेण) प्राण और अपान से भिन्न अन्य वस्तु के द्वारा (तु) तो (जीवन्ति) जीते हैं (यस्मिन्) जिसमें (एतौ) ये प्राण और अपान (उपाश्रितौ) आश्रित हैं।

भावार्थ - जो जन यह मानते हैं कि मनुष्य या पशु पक्षी आदि प्राणियों का जीवन प्राणों के आश्रय है, उनका खण्डन करते हुए बतलाते हैं कि कोई प्राणों से जीवित नहीं रहता और न ही अपान जीवन का कारण है, वरन् जीवन का कारण प्राण अपान से भिन्न जीवात्मा है, जिसके आश्रय प्राण अपान इन्द्रियाँ और शरीर ठहरे हैं। अर्थात् जीवन का कारण जीव है, प्राण जीवन का कारण नहीं।

प्रश्न - जब खाना-पीना प्राणों के धर्म हैं और जीवित वही कहलाता है, जिसमें पाचन और गति हो, तो प्राणों को जीवन का हेतु क्यों न माना जावे?

उत्तर—प्राण तो प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान है। जिसके कारण सृष्टि का प्रकाश करनेवाले छः विकारों की सत्ता है। किन्तु प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य प्राण समस्त जगत् में विद्यमान है, दूसरे विशेष प्राण। जिसमें एक जैसी गति होती है, उसमें सामान्य प्राण होते हैं। जिसमें तीन प्रकार की गति होती है। इस गति के दो विभाग किये जा सकते हैं, एक संकल्पज दूसरी व्यवस्थापिका। संकल्पज गति की सत्ता 'करना, न करना, उल्टा करना' से जानी जाती हैं। इस संकल्पज गतिवाले शरीर में जीवात्मा की सत्ता के कारण पाचन, रक्षण और विवेचन [भले बुरे की पहचान] जो जीवन के चिह्न हैं, पाये जाते हैं। जिन पदार्थों में सामान्य प्राणों की विद्यमानता के कारण व्यवस्थापिका गति होती है। उनमें पाचन तो होता है किन्तु रक्षण तथा विवेचन नहीं होता है। चूंकि जीवन का मूल रक्षण और विवेचन है और ये दोनों जीव के कारण से होते हैं, अतः जीवन का मूल हेतु जीव है ॥५॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

पदार्थ—(हन्त) दयनीय नचिकेतः। (ते) तुझको (इदम्) यह (प्रवक्ष्यामि) कहता हूं, उपदेश करता हूँ

(गुह्यम्) गुप्त रहस्य (ब्रह्म) वेद से प्रकाशित (सनातनम्) सदा से रहनेवाला। (यथा) जैसे (मरणम्) मौत को (प्राप्य) प्राप्त करके (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है (गौतम) गौतम गोत्र में उत्पन्न।

भावार्थ—यमाचार्य कहते हैं कि दयनीय नचिकेतः! करने के पश्चात् जीवात्मा का क्या होता है। इस विषय में तुझे मैं वेद से प्रकाशित सनातन उपदेश कहूंगा। यह विद्या प्रत्यक्ष नहीं है कि सर्वसाधारण इसे जान सके। यह गुप्त रहस्य है, जिसको आत्म-विद्या के ज्ञानी योगी ही जान सकते हैं। साधारण जनों की इसमें गति नहीं है। जो जीवात्मा के स्वरूप को जान जाते हैं, वही इस तत्त्व को जान सकते हैं कि शरीर छोड़ने के बाद जीवात्मा कहाँ जाता है। जिनको यही ज्ञान नहीं कि जीवात्मा है क्या वस्तु? जीवात्मा द्रव्य है या गुण? संयोगज है या अज? ज्ञान है या ज्ञानवान् नित्य है या अनित्य? स्वभाव से मुक्त है या बद्ध वे क्या और कैसे जानें? कि करने के बाद आत्मा का क्या होता है। सारांश यह कि आत्म-विद्या से शून्य जनों के लिये यह विद्या एक गुप्त रहस्य है।

प्रश्न—निचिकेता पर क्या आपत्ति आ पड़ी थी, जिसके कारण यमाचार्य ने उसे दयनीय कहा?

उत्तर—प्रथम तो नचिकेता को उसके पिता ने मौत के हवाले करने को कहा था, दूसरे वह ऐसी विद्या को प्राप्त करने का इच्छुक था, जिसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। छोटी सी आयु में कठिनता से पूर्ण होने वाली इच्छा का उत्पन्न होना क्या कम आपत्ति है ॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

पदार्थ—(योनिम्) दूसरे शरीर को (अन्ये) अन्य लोग, जिन्होंने ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं की, (प्रपद्यन्ते) प्राप्त करते हैं [अर्थात् दूसरे शरीर में चले जाते हैं] (शरीरत्वाय) कार्यों का फल भोगने अथवा आगे के लिये कार्य करने को शरीर प्राप्ति के लिये (देहिनः) जीवात्मा। (स्थाणुम्) गति रहित या संकल्पज गति से शून्य योनियों को (अन्ये) कई महापापी लोग (अनुसंयन्ति) प्राप्त करते हैं। (यथाकर्म्म) कर्मानुसार (यथाश्रुतम्) संस्कारी ज्ञान के अनुसार।

भावार्थ—ऋषि बतलाते हैं, हे नचिकेतः! जिन लोगों को मनुष्य शरीर में ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उनकी मरने के बाद जो दशा होती है, उसका वर्णन तो हो चुका। जिन्होंने मनुष्य देह प्राप्त करके भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, वे पुनः या मनुष्यदेह प्राप्त करते हैं, या गौ आदि पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेते हैं। जो सबसे नीच कर्मों वाले हैं, वे ऐसी योनियों या शरीरों को प्राप्त करते हैं, जो संकल्पज गति से रहित होते हैं। फलित यह कि जैसा कर्म और ज्ञान होता है, वैसे शरीर मिलते हैं।

प्रश्न—'स्थाणु' शब्द का अर्थ अन्य टीकाकार वृक्षादि योनियाँ कहते हैं, तुमने संकल्पज गति से रहित, 'गति-शून्य' अर्थ कैसा किया?

उत्तर—कि कणाद आदि महर्षि वृक्षों का शरीर नहीं मानते, जैसा कि वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य से प्रतीत होता है कि वे वृक्षों को विषय मानते हैं और इन्हें मिट्टी-पत्थर की भाँति वर्णन करते हैं*। शरीर का लक्ष्य पूरा करने के लिये जीव का जाना उपनिषद् ने वर्णन किया है। अतः वह अर्थ उचित नहीं है। इसका अभिप्राय वे योनियाँ हैं जो वृक्षों में निश्चेष्ट होकर पड़ी रहती हैं।

---

* वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के पहले दो प्रकार बतलाये गये हैं, एक नित्य—परमाणु रूप, दूसरे अनित्य फिर अनित्य के तीन भेद बतलाये गये हैं। १. शरीर, २. इन्द्रिय और ३. विषय। शरीर उसे कहते हैं जहाँ रहकर जीवात्मा सुख-दुःख भोगता है। इन्द्रिय भोगने के साधन=हथियार को कहते हैं। विषय उसे कहते हैं, जो भोगा जाय। अनित्य पृथ्वी के तीसरे भेद—विषय में ही वृक्षों, मिट्टी, पत्थर आदि को गिनाया गया है।

प्रश्न—कणाद ने भले ही वृक्षों को विषय कहा हो, किन्तु मनु ने स्पष्ट शब्दों में वृक्षों को स्थावर योनि कहा है।

उत्तर—स्थावर का अभिप्राय स्थान है। किन्तु यदि कोई हठ से कहे कि वृक्ष योनि ही है तो उसे जानना चाहिए कि वेद ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि सृष्टि दो प्रकार की ही है, एक भोक्ता दूसरी भोग्य। जिसमें जीव है वह चेतन सृष्टि भोक्ता=भोगने वाली है। जिसमें जीव नहीं वह भोग्य सृष्टि है। वह भोगने खाने आदि के वास्ते बनी है। इन्हीं को स्थावर, जंगम, जड़ चेतन आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इसका तो कोई अपलाप नहीं कर सकता कि वनस्पतियाँ खाने के लिये बनाई गई हैं। इसी विचार को लेकर कपिल ने कहा कि जिसमें चेतन=जीवात्मा नहीं वह भोग्य सृष्टि कहलाती है।

प्रश्न—यदि वृक्ष को योनि माना जाय तो क्या दोष है?

उत्तर—प्रथम तो वृक्ष में चेतन का लक्षण 'करना, न करना, उलटा करना' रूप संकल्पज गति को सिद्ध करना होगा दूसरे यह सिद्ध करना होगा कि वृक्ष कर्म योनि हैं, भोग योनि हैं या उभय योनि? तीसरे यह बतलाना होगा कि वे किस अवस्था में हैं। चौथे खाने के लिये, वृक्षों से भिन्न कोई अन्य सृष्टि सिद्ध करनी होगी। पांचवें यह भी बताना होगा कि दुःखादि गुण* समवाय सम्बन्ध से होते हैं या किसी अन्य सम्बन्ध से? सारांश यह कि इस अशुद्ध सिद्धान्त में इतने दोष हैं कि स्थानाभाव के कारण यहाँ विशेष नहीं लिखा जा सकता†॥

* सम्बन्ध कई प्रकार के होते हैं, उनमें से एक समवाय सम्बन्ध है। द्रव्य गुण का, द्रव्य कर्म का, जाति व्यक्ति का जो सम्बन्ध है, वह समवाय सम्बन्ध होता है, वह नित्य होता है।

† भाष्यकार वृक्षों में जीव नहीं मानते। स्थानाभाव से हम उनके इस मत का यहां विवेचन नहीं करते। इनके इस मत का समर्थन वेद-शास्त्रों से नहीं होता।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृत-मुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥८॥

पदार्थ—(यः) जो (एषः) यह अन्तर्यामी (सुप्तेषु) सोये हुओं में (जागर्ति) जागता है (कामं + कामम्) प्रत्येक कामना के अनुसार (पुरुषः) सर्वव्यापक परमात्मा (निर्मिमाणः) सर्व जगत् का निर्माण करता हुआ। (तत्-एव) वही (शुक्रम्) जगत् का रचने वाला मूल है (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म=सब से बड़ा है (तत्-एव) वही (अमृतम्) अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उस ब्रह्म में (लोकाः) सूर्य आदि लोक (श्रिताः) आश्रित हैं, ठहरे हुए हैं (सर्वे) सब। (तत्) उसको (उ) तो (न) नहीं (अत्येति) लंघन कर सकता (कश्चन) कोई। (एतत् + वै + तत्) जिस ब्रह्म के विषय में तूने प्रश्न किया था वह यही है।

भावार्थ—सर्वान्तर्यामी परमात्मा, समस्त जीवों के सोने की दशा में भी जागता हुआ उनको रक्षा करता है। यद्यपि उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है तथापि जीवों की आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक वस्तु की रचना करता है। यद्यपि जीव उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते, वरन् अनेक कार्य उसकी आज्ञा के विरुद्ध करते हैं तो भी वह उन पर से करुणा का कर नहीं हटाता और सुषुप्ति अवस्था देकर उनको आनन्द देता है। वही सब जगत् का रचने वाला है, वही सबसे बड़ा है, वही अमृत=मुक्तस्वरूप है। जिसका पान कर जीव अमर हो जाते हैं। जो लोग उसके नियमों के अनुसार चलते हैं, वे मुक्ति सुख प्राप्त करते हैं। उसीके सहारे सूर्य पृथिवी आदि लोक बसते हैं। उसने एक दूसरे में आकर्षण शक्ति उत्पन्न कर दी है, जिससे बंधे हुए ये सब लोक आकाश में स्थित हैं। जैसे मनुष्य का फेंका हुआ पत्थर तभी तक आकाश में रहता है और ऊपर को जाता है, जब तक शक्ति उसमें रहती है। ज्यों ही शक्ति समाप्त हो जाती है,

त्यों ही वह नीचे की ओर गिरता है। ऐसे ही प्रत्येक लोक उसकी ही शक्ति से गति कर रहा है। कोई भी लोक उसके नियम को तोड़ नहीं सकता। सब नियमपूर्वक गति कर रहे हैं। इसी नियम के ज्ञान से ज्योतिषी बतला सकता है कि हजार वर्षों बाद अमुक तिथि को ग्रहण होगा और वह होता है। हे नचिकेतः! जिस ब्रह्म के विषय में तूने प्रश्न किया था, वह ब्रह्म यही है।

प्रश्न—उपनिषद् ने तो यह बतलाया कि कोई उसके नियम को तोड़ नहीं सकता किन्तु हम देखते हैं कि लोग रात दिन पाप करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यदि परमात्मा के नियम के विरुद्ध न किया जाये, तो वह पाप कहला ही न सकता। पुनः उपनिषद् का यह कथन कैसे सत्य=संगत हो सकता है?

उत्तर—एक परमात्मा के नियम हैं, दूसरे परमात्मा के आदेश। परमात्मा के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। यथा—परमात्मा का नियम है कि आँख से देखें, कान से सुनें, नाक से सूघें इत्यादि; कोई नाक से नहीं सुन सकता, कान से नहीं देख सकता, आँख से नहीं सूँघ सकता। परमात्मा का नियम है कि अग्नि की शिखा=ज्वाला ऊपर की ओर जले; कोई अग्नि शिखा को नीचे की ओर नहीं कर सकना। सूर्य्यचन्द्र आदि को कोई बदल नहीं सकता। सर्दी के दिनों में रात्रि बड़ी और दिन छोटा होता है, कोई दिन को बड़ा और रात्रि को छोटा नहीं कर सकता। वायु जब पश्चिम से चल रही है, उसे कोई पुरवा=पूर्व से चलने वाली नहीं कर सकता। भाव यह कि परमात्मा के नियमों को तोड़ने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। आदेशों का उल्लंघन हो सकता है, जिस का दण्ड भी मिलता है। आदेशों के अनुसार या विरुद्ध चलने, न चलने में जीव स्वतन्त्र हैं। यदि आदेश के अनुसार आचरण करते हैं तो सुख पाते हैं। यदि आदेश के अनुसार नहीं चलते या विरुद्ध चलते हैं तो दुःख पाते हैं।

प्रश्न—ईश्वर जीवों को अपना आदेश पालन करने में बाधित=विवश क्यों नहीं करता?

उत्तर—चूँकि आदेशानुसार चलने न चलने में जीवों का ही लाभ या हानि है, अतः ईश्वर इसमें उन्हें विवश नहीं करता, इसमें सब जीव स्वतन्त्र हैं। जिसमें वे स्वतन्त्र हैं उनमें बाधित करना ईश्वर अन्याय मानता है ॥८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

पदार्थ—(अग्निः) अग्नि (यथा) जैसे (एकः) एक है (भुवनम्) उत्पन्न, संयोगज पदार्थों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (रूपं+रूपम्) प्रत्येक रूप के साथ (प्रतिरूपः) उसी रूपवाली हो जाती है (एकः) एक (तथा) ऐसे ही (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त पदार्थों के भीतर व्यापक होने वाला आत्मा अर्थात् ब्रह्म (रूपं+रूपम्) प्रत्येक रूप के साथ (प्रतिरूपः) उसी रूप वाला तथा (बहिः) बाहर (च) भी होता है।

भावार्थ—जैसे प्रत्येक पदार्थ में एक ही अग्नि विद्यमान है, और जिस आकार के पदार्थ हैं, उसी आकार वाला प्रतीत होता है, क्योंकि अग्नि का अपना कोई आकार नहीं। प्रत्येक आकार में जो रूप दीखता है, वह उसके भीतर अग्नि की सत्ता को सिद्ध कर रहा है। अर्थात् आकार रहित अग्नि प्रत्येक आकार को प्रकट कर रहा है। परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर व्यापक है, कोई पदार्थ उससे रिक्त नहीं है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भीतर भी विद्यमान है संयोगज पदार्थों की अपेक्षा से अज [उत्पन्न न होने वाले] पदार्थ और आकाश सूक्ष्म होते हैं, अतः प्रत्येक संयोगज=मूर्त्तिमान् पदार्थ के अन्दर आकाश है। जिसके भीतर आकाश हो, वह संयोगज है, अज नहीं। परमात्मा अज [परमाणुओं, आत्माओं] पदार्थों तथा आकाश से भी सूक्ष्मतर है, अतः वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भीतर भी विद्यमान है। परमाणु के

भीतर आकाश नहीं रह सकता, किन्तु परमात्मा परमाणु में रहता है। यह नियम नहीं है कि जहाँ आकाश हो, वहीं परमात्मा हो, वरन् वह परमाणुओं के भीतर भी जहाँ आकाश नहीं रह सकता, विद्यमान है और बाहर भी है। यदि परमात्मा केवल पदार्थों के भीतर ही होता तो पदार्थ परमात्मा से बड़े होते, क्यों छोटा पदार्थ बड़े के अन्दर रह सकता है। इस सन्देह को मिटाने के लिये कहा कि वह बाहर भी है। अर्थात् वह सब का आधार है, उसका आधार कोई नहीं, वह सबके भीतर और बाहर रहनेवाला है ॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

पदार्थ—(वायुः) वायु [जिसमें उठाकर चलने की शक्ति है। (यथा) जैसे (एकः) एक है (भुवनम्) उत्पन्न पदार्थों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (रूप+रूपम्) प्रत्येक रूप के साथ (प्रतिरूपः) वैसे ही रूप वाला (बभूव) होता है (एकः) एक (तथा) वैसे ही (सर्वभूतान्तरात्मा) समस्त जीवों के भीतर रहने वाला आत्मा (रूप+रूपम्) हर एक रूप के साथ (प्रतिरूपः) उस ही रूप वाला होता है और (बहिः) बाहर (च) भी है।

भावार्थ—जैसे वायु प्रत्येक संयोगज पदार्थ में प्रविष्ट होने पर उसीके आकार सा प्रतीत होता है। वायु का अपना कोई आकार नहीं, वह जैसे पदार्थ में रहता है, वैसा ही उसका आकार बन जाता है। यदि मकान चतुरस्र है तो उसमें चलने वाला वायु भी उस आकार का होगा। यदि गृह सम चतुरस्र है तो वायु भी उसी आकार का होगा। यदि गृह गोल है, तो वायु का आकार भी गोल होगा। जैसे वायु प्रत्येक पदार्थ के साथ उस ही आकार वाला प्रतीत होता है परमात्मा की भी यही दशा है, कि वह जिस पदार्थ में रहता है उसी ही आकार में रहता है, क्योंकि उसका अपना कोई आकार नहीं। यदि पदार्थ के अन्दर ही होता तो उसे उस आकार वाला कह सकते थे किन्तु वह पदार्थ के बाहर भी है। परमात्मा इस जगत के अन्दर बाहर होने से जगत् के आकार वाला नहीं कहला सकता।

प्रश्न—प्रत्येक पदार्थ के भीतर तो परमात्मा की सत्ता समझ में आ सकती है, किन्तु पदार्थों के बाहर उसे कैसे मानें?

उत्तर—यदि परमात्मा जगत् के भीतर ही हो तो वह सब से महान् ब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि व्यापक और व्याप्य का यही भेद है कि व्याप्य व्यापक के भीतर रहता है [अर्थात् व्यापक की अपेक्षा व्याप्य थोड़े से स्थान में रहता है, जहाँ व्याप्य होता है, व्यापक वहां भी रहता है, और उससे अतिरिक्त स्थान में भी] जैसे लोहे के कड़ाहे का जल। और व्यापक वह है जो व्याप्य के भीतर बाहर दोनों स्थानों में रहता है जैसे लोहे के पात्र में आग, वह भीतर बाहर दोनों ओर होती है। यदि अग्नि दो ओर न हो तो पात्र छूने पर दोनों ओर से गरम प्रतीत न हो।

प्रश्न—लोहे के पात्र के बाहर भी आकाश रहता है अतः अग्नि अन्दर बाहर दोनों ओर रह सकता है, किन्तु आकाश के बाहर क्या वस्तु है, जिसके भीतर रहने से परमात्मा को आकाश में व्यापक अर्थात् आकाश के भीतर बाहर रहने वाला माना जाये।

उत्तर—जो व्यापक होगा, वह व्याप्य की अपेक्षा अवश्य बड़ा स्वीकार करना होगा। चूँकि आकाश लोहे के पात्र का आधार [व्यापक] है, अतः आकाश लोहे के पात्र से बड़ा है। परमात्मा आकाश से भी महान् है, अतः वह आकाश से बाहर भी है, जिस तरह पात्र के भीतर बाहर दोनों ओर आकाश है। यदि पूछा जाये कि आकाश किस के अन्दर है? तो कहना होगा कि सब वस्तुओं के भीतर-बाहर। यदि कोई कहे कि पदार्थों के बाहर आकाश किस में रहता है? यदि कहो कि परमात्मा में, तो यही उत्तर परमात्मा के सम्बन्ध में भी दिया जा सकता है। किन्तु इसमें आत्माश्रय दोष आता है, क्योंकि इससे वह स्वयं ही व्याप्य और स्वयं ही व्यापक हो जाता है, एक में व्याप्य व्यापक भाव

बन भी नहीं सकता। व्याप्य का व्यापक से अल्प होना आवश्यक है। परमात्मा सब से महान् है, अतः सब से सूक्ष्म है, अतः वह सब के भीतर है। उसकी अपेक्षा न कोई सूक्ष्म है और न कोई उससे महान् है कि जिसका व्याप्य वह बने ॥१०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

पदार्थ— (सूर्य्यः) सूर्य्य (यथा) जैसे (सर्वलोकस्य) समस्त संसार का अर्थात् सब देखने वालों का (चक्षुः) देखने का साधन (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता (चाक्षुषैः) चक्षु सम्बन्धी (बाह्यदोषैः) बाह्य दोषों से, [अर्थात् जो दोष आँख में आते हैं, वह सूर्य्य में नहीं आ सकते] (एकः) एक (तथा) ऐसे ही (सर्वभूतान्तरात्मा) सब पदार्थों के अन्दर रहने वाला परमात्मा (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता (लोक दुःखेन) संसार के दुःख से (बाह्यः) बाहर भी रहने वाला।

भावार्थ—जब यह कहा गया कि परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर है कोई पदार्थ उससे रिक्त=खाली नहीं, तो यह शङ्का हुई कि क्या वह मल-मूत्रादि गन्दे मलिन पदार्थों में भी रहता है, यदि है, तो क्या उसको दुर्गन्ध आदि से कष्ट न होता होगा ? हम तो सहसा दुर्गन्धित पदार्थों के पास जाने से घबरा जाते हैं, वह अपवित्र और दुर्गन्धमय पदार्थों में कैसे रहता होगा ? इसके समाधान में बतलाते हैं कि जिस प्रकार समस्त संसार का चक्षु अर्थात् देखने का साधन है, किन्तु चक्षु का सहायक होने पर भी आँख में होने वाले रोगों से वह रोगी नहीं होता; ऐसे ही परमात्मा समस्त जगत् में व्यापक होता हुआ सांसारिक दुःखों से लिप्त नहीं होता। संसार में जितने दोष हैं, वे स्थूल हैं। स्थूल सूक्ष्म से बाहर रहता है, अन्दर नहीं जा सकता। जब भीतर जा ही नहीं सकता तो क्या हानि कर सकता है। निस्सन्देह सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा मलिन से मलिन पदार्थ में भी विद्यमान है, किन्तु इस नियम के कारण, कि स्थूल पदार्थ के गुणों का संक्रमण सूक्ष्म में नहीं हो सकता, दुर्गन्धमय पदार्थों के गुण परमात्मा में नहीं जा सकते। गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है, जहाँ गुणी होगा, वहीं उसके गुण भी होंगे। चूंकि स्थूल द्रव्य सूक्ष्म में पैठ नहीं सकता, अतः उसके गुण भी वहाँ नहीं जा सकते। पानी में अग्नि प्रविष्ट होकर उसे भस्म कर सकती है, किन्तु अग्नि में जल प्रविष्ट होकर उसे शीतल नहीं कर सकता। ऐसे ही पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों के गुण परमात्मा में नहीं जा सकते। और स्थूल का सूक्ष्म पर प्रभाव भी नहीं पड़ता। अतः समस्त संसार के भीतर रहता हुआ भी परमात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता ॥११॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

पदार्थ—(एकः) एक अकेला (वशी) सबको नियम में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब पदार्थों के भीतर रहने वाला सर्वव्यापक परमात्मा (एकं) एक (रूपम्) जगत् के कारण रूप को (बहुधा) अनेक प्रकार से (यः) जो (करोति) करता है, (तम्) उस (आत्मस्थम्) आत्मा के भीतर रहने वाले को (ये) जो (अनुपश्यन्ति) अनुभव करते या अन्दर देखते हैं (धीराः) धैर्य्यशाली बुद्धिमान् पुरुष, (तेषाम्) उनको (सुखम्) सुख (शाश्वतम्) स्थिर (न) नहीं (इतरेषाम्) दूसरों को।

भावार्थ—यह वह वाक्य है, जो सब मतों को एक करके परमात्मा की पूजा में लगाता है, जो यौक्तिक रीति से परमात्मा की एकता का उपदेश करता है। मतवादियों के आठ विवाद हैं जिनको दूर करके यह उपनिषद् वचन सब को एक करता है। वे आठ विवादस्थान ये हैं—१. बहुत से लोग कहते हैं, ईश्वर है, अनेक जन कहते हैं, ईश्वर नहीं है, यह आस्तिकों [ईश्वरवादियों] तथा नास्तिकों अनीश्वर-

वादियों का झगड़ा है। २. दूसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर एक है या अनेक? बहुत से एक अनेक मानते हैं, और कई* तीन से चौबीस तक मानते हैं, यह विवाद एकेश्वरवादियों तथा अनेकेश्वरवादियों का है। ३. तीसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर कहां है? कोई ⁑ चौथे आस्मान पर, सातवें आस्मान पर, वैकुण्ठ, क्षीरसागर, गोलोक, ब्रह्मलोक, कैलाश, मोक्ष-शिला आदि में। ईश्वर को अपरिच्छिन्न और परिच्छिन्न मानने वालों का यह विवाद है। ४. चौथा विवाद यह है कि ईश्वर कर्म्मों का फल किस भांति देता है? कोई कहता है। ईश्वर कर्म्मों का फल देता ही नहीं, कोई कहता है चित्रगुप्त लिखता रहता है, कोई मुनकिर नकीर नामक दो देवदूत (फ़रिश्ते) मानता है, यह झगड़ा कर्म्मफल के विषय में है †। ५. पांचवां झगड़ा यह है कि ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से उत्पन्न किया? कोई कहता है, ईश्वर ने उत्पन्न ही नहीं किया, कोई कहता है, 'कुन्' कहने से जगत् उत्पन्न हो गया, कोई कहता है, प्रकृति से उत्पन्न हुआ *। ६. छठा झगड़ा यह है कि जीव ब्रह्म में भेद है या अभेद? कोई केवलाद्वैत मानता है कोई विशिष्टाद्वैत, कोई द्वैताद्वैत आदि-आदि स्वीकार करता है ⁑। ७. सातवां झगड़ा यह है कि अनादि पदार्थ कितने हैं? कोई एक, कोई तीन, और कोई-कोई ९२ तक मानने वाले भी हैं। बहुत से सभी पदार्थों को अनादि मानते हैं §। आठवां झगड़ा यह है कि मुक्ति का साधन क्या है? कोई ज्ञान से मोक्ष मानता है, कोई स्नान से, कोई किफ़ारा से, कोई शफ़ाअत से ×। इन आठ झगड़ों का उपनिषत् ने निर्णय कर दिया है। पहले झगड़े का निर्णय यह किया है कि जगत्कर्त्ता ईश्वर एक है, 'एक है' कहने से पहले दो प्रश्नों का समाधान हो गया। 'है' कहने से 'नहीं है' का खण्डन हो गया, और 'एक' कहने

---

* ईसाई ब्रह्म, पवित्रात्मा तथा ईसा इन तीनों को समान मानते हैं, अतः वे तीन ईश्वर मानने वाले हैं। जैन चौबीस तीर्थंकर मानते हैं, उन्हें ही परमेश्वर मानते हैं, अपने मन्दिरों में उनकी मूर्त्तियाँ बनाकर पूजा आराधना करते हैं।

⁑ ईसाई ईश्वर को चौथे आस्मान पर, मुसल्मान सातवें आस्मान, और पौराणिकों के भिन्न-भिन्न संप्रदाय गोलोक आदि में ईश्वर का होना मानते हैं। विस्तार के लिये 'सत्यार्थ प्रकाश' का ग्यारहवां, बारहवां, तेरहवां और चौदहवां समुल्लास देखिये।

† जैन कहते हैं, ईश्वर, कर्म्मों का फल नहीं देता, कर्म अपने आप ही फल देते हैं। पौराणिक कहते हैं कि यम-राज का प्रधान लेखक चित्रगुप्त है, वह सबके भले बुरे कर्म्मों का विवरण लिखता रहता है। मरने पर जब जीव यमराज के सामने पहुँचता है तो चित्रगुप्त उसका कर्म्मलेखा प्रस्तुत करते हैं। मुसल्मान कहते हैं मुनकिर नकीर नामक दो देव-दूत मनुष्य के भले बुरे कर्म्मों को लिखते हैं। प्रलय वाले दिन=न्याय के दिन, वे परमात्मा के सामने अपने लेखों को पेश करेंगे।

* जैन बौद्ध तथा योरुप के जड़वादी ईश्वर की सत्ता ही नहीं मानते, उसे जगत्कर्त्ता कैसे मानें? मुसल्मान कहते हैं संसार का उपादानकारण material cause कोई नहीं। ईश्वर ने 'कुन्' कहा, और जगत् अभाव से भावरूप हो गया। वैदिक धर्म्मी कहते हैं कि जगत् का उपादानकारण न मानना तर्कशून्य मत है। जगत् का उपादानकारण प्रकृति है।

⁑ शङ्कराचार्य्य के अनुयायी केवलाद्वैतवादी हैं। रामा-नुजाचार्य्य के अनुयायी विशिष्टाद्वैत मानते हैं। निम्बार्का-चार्य्य भास्कराचार्य्य के शिष्य द्वैताद्वैत के मानने वाले हैं।

§ मुसल्मान ईसाई आदि एक ईश्वर को ही अनादि मानते हैं। वैदिकधर्मी ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति-इन तीन को अनादि मानते हैं। पश्चिमी रसायनशास्त्री ९२ तत्वों को अनादि मानते हैं। जैन जगत् के सभी पदार्थों को अनादि मानते हैं।

× वैदिकधर्म्मी ज्ञान से, ईसाई कफ़ारा से, मुसल्मान शफ़ाअत, कई पौराणिक स्नान से मुक्ति मानते हैं।

से 'अनेक' होने का खण्डन हो गया। अब प्रश्न होता है, कि यदि वह एक है तो उसका हेतु ? इसका समाधान दिया है कि सर्वभूतान्तरात्मा होने से अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण। सर्वव्यापक एक से अधिक माने जायें तो एक जैसों=समानों का परस्पर व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध नहीं बन सकता। स्थूल का प्रवेश सूक्ष्म में तो हो सकता है, या अल्प में महान् हो सकता है किन्तु समान जाति में सूक्ष्मता या अल्पता नहीं हो सकती। यदि आधे-आधे व्यापक माने जायें तो वे सर्वव्यापक नहीं हो सकते। ईश्वर सर्वव्यापक कहने से 'ईश्वर कहां हैं ?' इस तीसरे झगड़े का निर्णय हो गया कि ईश्वर किसी स्थान विशेष में नहीं, वरन् सर्वत्र है।

जब ईश्वर को सर्वव्यापक कहा, तो प्रश्न होता है कि वह सर्वत्र कैसे है ? और उसके होने का क्या प्रमाण है ? उत्तर मिलता है कि सर्वभूतान्तरात्मा, सब प्राणियों के अन्दर रहने वाले आत्माओं की तरह। जिस प्रकार हमारे शरीर की व्यवस्थित=नियमपूर्वक चेष्टा आत्मा की सत्ता का प्रमाण है, इसी प्रकार संसार में सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि नियम से गति कर रहे हैं, इस नियम को समझकर ही विज्ञानी बतला सकते हैं कि अमुक मास में अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा। यह नियमित गति परमात्मा की सत्ता को सिद्ध कर रही है। अतः सबके भीतर विद्यमान भगवान् सबके कर्मफलों का विधान करते हैं, कर्म्मफलदाता के बिना तो कर्म का फल अपने आप हो नहीं सकता। इसी से परमात्मा को यहाँ 'वशी'=सबको नियम में रखने वाला, कहा। इससे चौथे विवाद का निर्णय हो गया।

प्रश्न—यह क्यों न मान लिया जाये कि चित्रगुप्त सबका लेखा रखता है या मुनकिर नकीर सब कर्म्म लिखते हैं।

उत्तर—किसी लेखक, सहायक या एजेण्ट की आवश्यकता परिछिन्न को तो पड़ सकती है। बताओ वह अपरिच्छिन्न=असीम परमात्मा कहाँ नहीं है, जहाँ उसका एजेण्ट=प्रतिनिधि या पैगम्बर रह कर कार्य्य करे ? चित्रगुप्त आदि की सत्ता तो परमात्मा को परिच्छिन्न=सीमावाला होने के कारण मानी जा रही है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है, अतः इनकी आवश्यकता नहीं। लिखना भूलने के रोग का उपाय है। यदि परमात्मा को विस्मरण=भूलने का रोग होता तो उसके प्रतिनिधि या मुख्य लेखक या देवदूत लेख लिखते। जब उसमें भूल ही नहीं है, तब लिखने की क्या आवश्यकता ? झगड़े के समाधान के लिये कहा कि वह प्रकृति से जगत् उत्पन्न करता है। अनेक लोग यह कहेंगे कि यह क्यों न माना जाये कि उसने 'कुन्' कहा और जगत् उत्पन्न हो गया। प्रश्न होता है 'कुन्' किससे कहा ? जबतक सम्बोध्य [=जिससे कहा जाये] न हो तो कहें किससे ? अनेक लोग यह कहते हैं कि ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि अनादिकाल से जगत् ऐसा ही चला आता है अर्थात् अनादि है। इसका उत्तर यह है कि कोई विकारी पदार्थ अनादि नहीं हो सकता। छठे विवाद के निर्णय के लिये 'आत्मस्थ' कहा, अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेद है। ब्रह्म जीव के भीतर भी व्यापक है। वह आत्मा में रहनेवाला परमात्मा है। सातवें विवाद की शान्ति के लिये कहा कि तीन पदार्थ अनादि हैं—एक देखनेवाला जीवात्मा, दूसरा जिसको वह देखता है अर्थात् प्रकृति, तीसरा जिसको उसके अन्दर देखता है अर्थात् ब्रह्म। जीव, ब्रह्म और प्रकृति ये तीन अनादि पदार्थ हैं। 'मुक्ति का क्या साधन है ?' इस आठवें विवाद का निर्णय यों है कि ईश्वर को एक, समस्त संसार में व्यापक, अपरिच्छिन्न, सर्वान्तर्यामी अर्थात् सबके भीतर के विचारों को जाननेवाला, कर्म्मफलप्रदाता, प्रकृति से जगत् की रचना करनेवाला, जीवों से भिन्न जानने, मानने और तीन अनादि पदार्थों के मानने से मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् ज्ञान से मुक्ति होती है, स्नान आदि से नहीं ॥१२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

पदार्थ—(नित्यः) एकरस रहनेवाला (नित्यानाम्) नित्यों में (चेतनः) ज्ञानवान् (चेतनानाम्) ज्ञानवानों में भी (एकः) एक (बहूनाम्) अनेकों की (यः) जो (विदधाति) बनाता है, पूर्ण करता है (कामान्) कामनाओं को, आवश्यकताओं को (तम्) उस (आत्मस्थम्) आत्मा के भीतर रहनेवाले को (ये) जो (अनुपश्यन्ति) अन्दर देखते हैं या अनुभव करते हैं (तेषाम्) उन्हें (शान्तिः) शान्ति, एकाग्रता (शाश्वती) स्थिर; (न) नहीं (इतरेषाम्) दूसरों को।

भावार्थ—वह नित्य या अनादि पदार्थों में नित्य है। प्रकृति में विकार होते हैं, अतः उसमें अवस्थादि परिणाम होते हैं; जीव को विभिन्न योनियों में जाना पड़ता है, इस कारण उसके साथ उत्पत्ति शब्द का प्रयोग होता है। परमात्मा एकरस है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता, उसमें न अवस्थादि परिणाम और न जन्म मरण होते हैं। अतः वह नित्यों में भी नित्य है, वह चेतनों में भी चेतन=ज्ञानी है अर्थात् सर्वज्ञ है। दूसरों-जीवों के संबन्ध में, अल्पज्ञता के कारण किसी वस्तु के न जानने से अज्ञान शब्द का व्यवहार हो सकता है; परमात्मा तो सर्वज्ञ है, वह ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ ज्ञानवान् है। वह एक है किन्तु समस्त जीवों की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है, प्रत्येक को वह पदार्थ जिन पर जीवन का निर्भर होता है देता है। उन्हीं को शाश्वत= स्थिर शान्ति मिलती है, जो जीव मन के मल विक्षेप, आवरण तीन दोषों को वारण करके आत्मा में रहने वाले परमात्मा के दर्शन करते हैं। जिस प्रकार नेत्र में लगे अंजन को देखने के लिये दर्पण, प्रकाश, दर्पण की निर्मलता, दर्पण की निश्चलता और आवरण से रहित होना आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मा में रहने वाले परमात्मा को देखने के लिये मन में ब्रह्मचर्य्याश्रम द्वारा ज्ञान=प्रकाश को प्राप्त करने, गृहस्थाश्रम में दूसरों के अनिष्ट=बुरा चिन्तन करने से उत्पन्न होने वाले सब मलों को निष्काम परोपकार से दूर करने, वानप्रस्थाश्रम के द्वारा वैराग्य प्राप्त करके अथवा योग के अङ्गों के अनुष्ठान के अभ्यास से मन की चञ्चलता का नाश करने, संन्यासाश्रम द्वारा अहंकार के आवरण को दूर करने की आवश्यकता होती है। जिन्होंने इन आश्रमों के अभ्यास या योगादि साधनों से मन के दोष दूर न किये हों, उनको स्थिर शान्ति नहीं मिल सकती ॥१३॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

पदार्थ—(तत्) उसको (एतत् इति) यह 'ऐसा है' इस भाँति (अनिर्देश्यम्) निर्देशन करने योग्य, न बताने योग्य (परमम्) सबसे उत्तम (सुखम्) सुखस्वरूप परमात्मा। (कथं+नु) कैसे तो (तत्) उसको (विजानीयाम्) मैं जान सकूँ (किं+उ) क्या (भाति) चमकता है (विभाति) प्रकाश करता है (वा) अथवा।

भावार्थ—सब लोग यह मानते हैं कि 'वह ऐसा है' ऐसा संकेत करके उस सुखमय परमात्मा का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। दूसरे कई लोग 'यह भी ब्रह्म नहीं, यह भी ब्रह्म नहीं' ऐसा 'नेति नेति' कह कर उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं। चूँकि वह सब से सूक्ष्म है, अतः उसको जतलाने के लिये ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे उसके सम्बन्ध में 'यह है' ऐसा बतलाया जा सके। अतः नचिकेता कहता है कि ऐसी दशा में मैं उसे क्योंकर जान सकता हूँ कि वह प्रकाश का कारण है, जिससे सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं या वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। वह क्या पदार्थ है ? इसका मुझे कैसे ज्ञान हो ॥१४॥

आचार्य्य नचिकेता की उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

पदार्थ—(न) नहीं (तत्र) उस ब्रह्म में (सूर्य्यः) सूर्य्य (भाति) प्रकाश करता है (न) नहीं (चन्द्रतारकम्) चाँद तारे (न) नहीं (इमाः) ये (विद्युतः) बिजलियां (भान्ति) चमकती हैं (कुतः) कहाँ (अयम्) यह (अग्निः) आग। (तम्+एव) उसी के ही (भांतम्) प्रकाश से (अनु) प्रकाश पाकर (भाति) प्रकाशित होता है (सर्वत्र) सब सूर्य्य, चन्द्र, तारे आदि। (तस्य) उसके (भासा) प्रकाश से (सर्वम्) सब (इदम्) यह जगत् (विभाति) स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

भावार्थ—परमात्मा का दर्शन करने कराने के लिये सूर्य्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सूर्य्य का प्रकाश भौतिक होने के कारण आत्मा के भीतर जा ही नहीं सकता। परमात्मा का दर्शन तो आत्मा के भीतर होता है। जब सूर्य्य का प्रकाश आत्मा के भीतर जा नहीं सकता, तो वह परमात्मा के दर्शन कैसे करा सकता है? चाँद का प्रकाश भी यहाँ कार्य्य नहीं कर सकता, क्योंकि भौतिक होने से वह भी आत्मा के भीतर प्रवेश नहीं पा सकता। यही अवस्था तारागण की है। बिजली का प्रकाश भी परमात्मा के दर्शन नहीं करा सकता। पुनः अग्नि के प्रकाश से उसके दर्शन कैसे कर सकते हैं? इसी परमात्मा के प्रकाश को लेकर ये सब सूर्य्य, चन्द्र, तारे और बिजली प्रकाशित होती है। यदि परमात्मा इनको प्रकाश न दे तो ये कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते। इनके भीतर जो कुछ प्रकाश है, वह इनका निजी नहीं वरन् परमात्मा का दिया हुआ है, जैसे प्रत्येक मनुष्य जानता है कि लोहे में गति अपनी नहीं है, वरन् किसी अन्य की दी हुई है। घड़ी बनाने वाले ने लोहे के अवयव बना कर घड़ी बना दी और उसको चाबी देकर चला दिया। मूर्खों के विचारानुसार तो घड़ी अपने स्वभाव से चल रही है, किन्तु बुद्धिमान् तथा विद्वान् जानते हैं कि घड़ी में जो गति है, वह घड़ी बनाने वाले की दी हुई व्यवस्थापिका गति है। जितने समय तक इस चाबी का बल-वेगाख्यसंस्कार रहेगा, घड़ी चलती रहेगी। किन्तु इस क्षणिक या अस्थिर प्रभाव को जो घड़ी बनाने वाले ने चाबी के द्वारा घड़ी में प्रविष्ट किया है, जिस समय पृथक् किया जायेगा, उस समय घड़ी वैसी की वैसी, निश्चेष्ट लोहे की दशा में होगी। ऐसे ही जितने लोक लोकान्तर हैं, वे सब परमात्मा की बनाई घड़ियां हैं, जो उसके विधान के अनुसार चल रही हैं, व्यक्तिगत रूप में किसी भी लोक में गति करने का सामर्थ्य नहीं है। जितना प्रभाव जिस लोक में पूर्णशिल्पी-विश्वकर्म्मा ने रखा है, उतना ही वह लोक कार्य्य कर रहा है। यमाचार्य्य नचिकेता को बतलाते हैं कि संसार में जो प्रकाश है, वह सब परमात्मा का है। जब वह ही उस प्रकाश का दाता है तब उस प्रकाश से हम उसे कैसे देख सकते हैं? हाँ, उस प्रकाश की वास्तविकता और मूल पर विचार करने से यह तो ज्ञात हो सकता है, कि जिससे यह प्रकाश आया, वह परमात्मा है। जैसे घड़ी और उसके भीतर गतिरहित लोहा आदि को देखकर बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकता है कि इसको किसी बुद्धिमान् शक्तिमान् ने बनाया है, क्योंकि लोहे में तो स्वभाव से चलने का सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि घड़ी में घड़ी बनाने वाला दिखाई न दे, तथापि घड़ी का कार्य्य उसकी सत्ता का प्रकाश कर रहा है।

प्रश्न—क्या परमात्मा जीवात्मा के भीतर ही दिखाई देता है, बाहर प्रकृति में दिखाई नहीं देता? यदि नहीं दिखाई देता तो उसके होने में प्रमाण?

उत्तर—परमात्मा प्रकृति के भीतर भी है, प्रकृति में नियमबद्ध संयोग-विभाग का होना परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। संयोग-विभाग परस्पर विरोधी गुण हैं, जो किसी एक वस्तु के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, अतः ये नैमित्तिक ही मानने पड़ेंगे। अन्य कोई ऐसा पदार्थ है नहीं जो परमाणुओं को पकड़ मिला सके या पृथक् कर सके, न कोई उनका पकड़ने का साधन ही दिखाई देता है। अतः उनको गति देने वाला उनके भीतर ही चाहिये। गति दो प्रकार से ही आ सकती है, या तो प्राण आदि भीतर से दें या बाहर से आकर्षण-विकर्षण करें। इन दोनों प्रकारों पर

विचार करें तो सिद्ध होता है कि गति भीतर से आती है। परमाणुओं के भीतर आकाश के न होने से प्राण आदि नहीं रह सकते अतः भीतर की गति परमात्मा से आई स्वीकार करनी पड़ती है। प्रकृति के मलिन होने से उसके भीतर परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जैसे सूर्य्य का प्रतिबिम्ब भूमि पर पड़ता है, किन्तु देखा उसी स्थान में जाता है जहाँ स्वच्छ जल या दर्पण आदि हों, अतः परमात्मा के दर्शन आत्मा के भीतर ही हो सकते हैं ॥ १५ ॥

इति कठोपनिषत् की पंचमी वल्ली समाप्त।

अथ कठोपनिषत्षष्ठवल्ली प्रारम्भः

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥१॥

पदार्थ—(ऊर्ध्वमूलः) जिसका मूल ऊपर को है वह (अवाक्शाखः) जिसकी शाखायें नीचे की ओर हैं वह (एषः) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला मनुष्य देह (अश्वत्थः) पीपल के वृक्ष के समान (सनातनः) नित्य रहने वाला। (तत्+एव) वही (शुक्रम्) शुद्ध, जगत् का कारण (तत्) वह (ब्रह्म) सबसे महान् (तत्+एव) वही अमृतम्) नाश-रहित (उच्यते) कहलाता है। (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (लोकाः) लोक योनियां (श्रिताः) आश्रित हैं। (सर्वे) सब [अर्थात् ब्रह्म ही समस्त लोक लोकान्तरों को धारण करता है] (तत्+उ) उसको तो (न) नहीं (अत्येति) उल्लंघन करता या विरुद्ध चलता (कश्चन) कोई।

भावार्थ—मनुष्य का शरीर ऐसा वृक्ष है जिसका मूल ऊपर की ओर है और शाखायें नीचे की ओर। यह वृक्ष अन्य सब वृक्षों के विपरीत ऐसा ही बनता है। इस शरीर-वृक्ष का कारण ब्रह्म ही है, जो सबसे महान् और अविनाशी है, जिसके आश्रय यह समस्त जगत् चल रहा है। उसके नियम को कोई नहीं तोड़ सकता।

प्रश्न—इस शरीर का मूल, जो ऊपर की ओर है, कौन सा है ? और शाखा आदि कौन से हैं ?

उत्तर—सिर इस वृक्ष का मूल है, और पेट आदि इसका मोटा तना है, जो टांगों से दो भागों में विभक्त हो जाता है, हाथ पाँव और उनकी अंगुलियां आदि इसकी शाखायें हैं।

प्रश्न – शरीर को वृक्ष, सिर को मूल और अन्य अंगों को शाखायें क्यों कहा ?

उत्तर – चूँकि शरीर भी वृक्ष की भांति सूखने वाला और शीर्ण=कटने फटने वाला है, जैसे वृक्ष का नाश होता है, ऐसे ही शरीर का भी नाश होता है, अतः शरीर को वृक्ष कहा। यदि सिर को नीचे करके शरीर को खड़ा किया जाये* तो शरीर सर्वथा एक वृक्ष प्रतीत होने लगता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष में रस मूल द्वारा पहुँचता है, इस शरीर को भी भोजन सिर† के द्वारा ही पहुँचता है, अतः सिर ही इस शरीर का मूल है। दूसरे, प्रत्येक कर्म्म जो किया जाता है, उसका मूल ज्ञान है, और कर्म्म शाखायें हैं। ज्ञान के बिना कोई कर्म्म योग्य रीति से नहीं हो सकता, और सारी ज्ञानेन्द्रियां सिर में हैं, जिस कर्म्म के लिये यह शरीर बना है, उसका मूल [=ज्ञानेन्द्रियां] सिर में है, अतः सिर मूल है। शेष कर्म्मेन्द्रियां जो इसकी शाखायें हैं, वे सिर की अपेक्षा शरीर के निचले हिस्सों में हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक हेतु हैं जिनके कारण सिर शरीर-वृक्ष का मूल और शरीर के शेष अङ्ग शाखायें कहलाती हैं ॥ १ ॥

---

* जैसे शीर्षासन में किया जाता है। † मुख सिर में ही है।

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति २॥

पदार्थ—(यत्) जो (इदम्) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला (किं च) कुछ थोड़ा-बहुत (जगत्) उत्पत्तिविनाशयुक्त जगत् है, (सर्वम्) सब समष्टि रूप से (प्राणे) प्राण के आश्रय से (एजति) अपने कर्म्म के लिये गति करता है (निःसृतम्) निकला हुआ=उत्पन्न हुआ हुआ। (महद्+भयम्) बहुत भयङ्कर (वज्रम्) अष्टधातु से निर्मित वज्र के समान कठोर (उद्यतम्) उठा हुआ है अर्थात् उत्पत्ति और विनाश का कारण है (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस तत्व को (विदुः) जानते हैं (अमृताः) मुक्त (ते) वे (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—यह जगत् जो परमात्मा ने उत्पन्न किया है, और जो परमात्मा की अपेक्षा बहुत ही अल्प=छोटा है, परमात्मा की सत्ता के कारण ही प्राणियों के जीवन का कारण है। परमात्मा के कारण ही समस्त जगत् में गति पाई जाती है। जैसे घड़ी में जो गति प्रतीत होती है, आपाततः तो वह घड़ी के अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण दीखती है, किन्तु वास्तव में उस गति का कारण घड़ी बनाने वाले की वह गति है जो वह चाबी देकर और घड़ी के अवयवों में व्यवस्था स्थापित करके देता है; ऐसे ही जो गति जगत् में दीखती है, उसका कारण अचेत और गतिशून्य प्रकृति नहीं है, वरन् परमात्मा है। यह जगत् बहुत बड़ा भयंकर है। जैसे वज्र के लगने से बहुत चोट लगती है, ऐसे ही संसार के कार्य्यों में भय बना रहता है। दुर्बलों को बलवानों से भय रहता है; धनियों को चोरों से, डाकुओं से और राजा से भय होता है; छोटे राजाओं को बड़े राजाओं से भय लगता है; बड़े राजाओं को मृत्यु से डर लगता है। सारांश यह कि संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं जिसको भय न होता हो। यह उत्पत्ति वाला शरीर अवश्य नष्ट होगा, किसी बड़े से बड़े बलशाली प्राणी या राजा का सामर्थ्य नहीं कि इस देह को मृत्यु से बचा सके। जो लोग इस तत्त्व को जान जाते हैं कि इस संसार का प्रत्येक पदार्थ नाशवान् है और कि संसार के पदार्थों में चित्त लगाना अर्थात् राग करना दुःख का हेतु है, केवल एक ईश्वर ही ऐसा है, जिसकी उपासना के द्वारा दुःख से छूट सकते हैं, वे संसार का राग छोड़ कर परमात्मा के जानने का यत्न करते हैं, और जो परमात्मा को जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न– जगत् में जो गति दीखती है, क्या वह उसकी अपनी=स्वाभाविक नहीं है? साइंस=भौतिक-पदार्थ-विद्या से तो यह ज्ञात होता है कि गति प्रकृति के भीतर से प्रकट होती है। बाहर से गति देने वाला कोई नहीं दीखता।

उत्तर ईश्वर सब से अधिक सूक्ष्म होने के कारण सब के भीतर विद्यमान है, अतः सब के भीतर जो गति दीखती है, उसका हेतु ईश्वर है। ईश्वर परिच्छिन्न और स्थूल नहीं है, जो बाहर से गति देता हुआ दिखाई दे। जैसे शरीर को गति देने वाला जीवात्मा अन्दर से गति देता है, किन्तु दिखाई नहीं देता। ऐसे ही परमात्मा भी जीवात्मा की भांति भीतर से गति देता हुआ दिखाई नहीं देता।

प्रश्न—शरीर के भीतर जो गति है, वह रुधिर की गति के कारण से है, और बाह्य जगत् में जो गति दिखाई देती है, उसका कारण आकर्षण है। न कोई जीवात्मा है न परमात्मा!

उत्तर—यदि शरीर के भीतर केवल गति ही पाई जाती तो कहा जा सकता था कि इस गति का कारण रुधिर संचार=रुधिर की गति है किन्तु शरीर के भीतर गति के साथ ज्ञान भी विद्यमान है, जो सिद्ध करता है कि कोई ऐसा है जो ज्ञान के साथ गति दे रहा है। 'करना, न करना और उलटा करना' रूपी तीन प्रकार की गति जो संकल्प के साथ पाई जाती है, वह रुधिर संचार के कारण नहीं हो सकती। जैसे इंजिन में गति, स्टीम steam=बाष्प के कारण होती है किन्तु वह एक ही प्रकार की हो सकती है। हां ड्राईवर=इंजिन चलाने वाले की विद्यमानता से वह तीन प्रकार की

हो जाती है। यदि इंजिन में ड्राईवर न हो, तो तीन प्रकार की गति नहीं हो सकती। ऐसे ही शरीर में तीन प्रकार की गति जीवात्मा की सत्ता=विद्यमानता से होती है। यदि जगत् में गति का कारण आकर्षण होता, तो वह एक ही प्रकार की गति होती। जगत् में 'उत्पत्ति, स्थिति, संहृति (विनाश)' रूप तीन प्रकार की जो गति है, यह परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। आकर्षण तो परमात्मा के नियम से उत्पन्न होता है। जैसे घड़ी के अवयवों में जो आकर्षण है, वह अवयवों के कारण से नहीं वरन् घड़ी बनाने वाले के अवयवों की रचना उस प्रकार की करने के कारण से है। परमाणुओं में आकर्षण मान कर कोई भी संयोगज पदार्थों की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि जब समान वस्तुएँ एक दूसरे का आकर्षण करें, तब मिलाप नहीं हो सकता। जब बड़ी वस्तु छोटी को अपनी ओर खींचे तब मिलाप हो सकता है।

परमाणुओं को इस विधि से मिलाना कि उनमें आकर्षण उत्पन्न हो जाये, परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की शक्ति में नहीं है। जो लोग ईश्वर के बिना संसार के नियम को चलाना चाहते हैं, वे बहुत छोटे विचार के मनुष्य हैं। बुद्धिमान् जानते हैं कि ये सब कार्य परमात्मा के नियम से हो रहे हैं। जैसे घड़ी में जो व्यवस्थापिका-गति है जिसके कारण यह बताया जा सकता है कि घड़ी की यह सूई अमुक समय अमुक स्थान पर होगी और यह सूई अमुक काल में अमुक चिह्न पर होगी, वह गति घड़ी बनाने वाले के नियमपूर्वक चाबी देने से है। ऐसे ही संसार के समस्त ग्रह नक्षत्र तारे, जो नियमानुसार भ्रमण करते हैं, जिससे विद्वान् ज्योतिषी बता सकता है कि अमुक समय में अमुक ग्रह आदि अमुक स्थान में पहुँचेगा; सैकड़ों नहीं वरन् सहस्रों वर्ष पहले बताया जा सकता है कि अमुक तिथि को अमुक स्थान में सूर्य्यग्रहण होगा, अमुक में चन्द्रग्रहण होगा, परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। सारांश यह कि जिस तरह इंजिन की (Steam) बाष्प के अनुसार तीन प्रकार की गति ईश्वर की सत्ता का प्रमाण है, केवल स्टीम से वह संभव नहीं। ऐसी ही शरीर में तीन प्रकार की गति जीवात्मा की सत्ता का प्रमाण है, केवल प्राणों या रुधिरसंचार से वह नहीं हो सकती। ऐसे ही संसार में नियमानुसार जो कार्य्य हो रहा है, जिससे नियंत्रित होकर प्रत्येक लोक अपना कार्य्य कर रहा है, वह परमात्मा की सत्ता का साधक है। इस भाव को अगले वाक्य में स्पष्ट करते हैं ॥२॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥ ३ ॥

पदार्थ – (भयात्) भय से (अस्य) इसके (अग्निः) अग्नि (तपति) जलाने के नियम का, ऊपर जाने के नियम का पालन करता है, (भयात्) भय से नियम से (तपति) जलाता है, प्रकाश देता है या गति देता है (सूर्य्यः) सूर्य्य (भयात्) भय से, नियम से (इन्द्रः) बिजली काम करती है (च) और (वायुः) वायु चलता है (च) और (मृत्युः) मौत (धावति) दौड़ता है (पंचमः) पांचवां।

भावार्थ – परमात्मा के नियम से पाँच वस्तुएं गति करती हैं। कोई उनको इस नियम से पृथक् नहीं कर सकता, क्योंकि परमात्मा का भय अति महान् है। परमात्मा के नियम से अग्नि की शिखा ऊपर को चलती है। यदि लाखों मनुष्य मिलकर भी प्रयत्न करें, तो वह शिखा नीचे की ओर नहीं चल सकती। सूर्य्य परमात्मा के नियम में कार्य्य करता है, सूर्य्योदय का जो समय निश्चित है, करोड़ों मनुष्य अथवा संसार के बड़े-बड़े राजा भी उसमें हेरफेर नहीं कर सकते। विद्युत् परमात्मा के नियन्त्रण में चलती है, जो बड़ी से-बड़ी वस्तुओं को फोड़कर निकल जाती है, कोई उसे रोक कर उसकी गति में परिवर्तन नहीं कर सकता। वायु परमात्मा के नियम में चलती है, जिस समय वायु पूर्व की ओर चल रही हो, कोई मनुष्य उसे पश्चिम की ओर नहीं चला सकता। मृत्यु परमात्मा के नियन्त्रण में कार्य करता है। संसार के

बड़े-बड़े सम्राट् लाखों सेनाओं, दुर्गों, तोपों, डायनामेट के गोलों के रहते भी एक क्षण के लिये भी मौत को नहीं रोक सकते। मौत परमात्मा का ऐसा वारण्ट है कि बड़े-बड़े सम्राटों को भी पकड़ कर ले जाता है। सारांश यह कि परमात्मा के नियम को रोकने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। वैसे तो परमात्मा के द्रोही अनेक हो चुके हैं, अब भी हैं और आगे भी होंगे, किन्तु यह बल किसी में नहीं है कि कोई परमात्मा के मृत्यु वारण्ट से बच सके। समस्त शक्ति एवं सामर्थ्य परमात्मा के नियम के भीतर ही कार्य्य दे सकता है, उसके विरुद्ध चलने में सब नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—उपनिषद् ने बतलाया है कि विद्युत् परमात्मा के नियन्त्रण में चलती है किन्तु बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं, जो भौतिक पदार्थ-विद्या के बल से विद्युत् से कार्य्य लेते हैं और उसको तार आदि में बन्द करके अपने नियम में चलाते हैं।

उत्तर—जिन वस्तुओं में बिजली को बाँध रखने का सामर्थ्य ब्रह्म ने दिया है, उन्हीं से वे कार्य्य लेते हैं, अतः वे परमात्मा के नियम में रहते हुए कार्य करते हैं, उसके नियम के विरुद्ध नहीं।

प्रश्न--अनेक मनुष्य दूसरों को शस्त्रादि से मार देते हैं, यद्यपि उस समय उनकी मौत नहीं आई होती।

उत्तर—जिस समय मौत न आई हो, उस समय कोई शस्त्र-अस्त्र कार्य्य नहीं देता। इसका प्रमाण सम्राज्ञी के जीवन से मिलता है, अनेक लोगों ने गोलियां चलाईं, किन्तु एक भी सफल न हुई, और फ्रांस के सभापति आदि एक ही गोली से चल बसे ॥३॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

पदार्थ—(इह) इस शरीरमें (चेत्) यदि (अशकत्) सका (बोद्धुम्) जान [अर्थात् यदि यह जान सका कि समस्त जगत् में जो क्रिया हो रही है, वह सब ब्रह्म की शक्ति से है] (प्राक्) पूर्व (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से। (ततः) तो, उस ज्ञान से (सर्गेषु) सृष्टि के आरम्भ में (लोकेषु) पृथिवी आदि लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर के कार्य्यों के लिये (कल्पते) समर्थ होता है।

भावार्थ—यदि इस जन्म में मनुष्य को यह समझने की योग्यता हो जाये कि समस्त जगत् में जो गति हो रही है वह ब्रह्म की शक्ति से हो रही है, तो वह मुक्त हो जाता है। प्रकृति यदि स्वभाव से गतिमती हो, तो परमाणु आपस में मिल न सकेंगे। यदि वह स्वभाव से गतिरहित हो तो भी परमाणु आपस में नहीं मिल सकते। अतः गति का मूलकारण ब्रह्म है। शरीर नाश से पूर्व इसका जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। यदि मनुष्य इस तत्व को न जान पाये तो उसका फल यह होता है कि सर्गारंभ में जब संसार बन रहा होता है और पृथिवी आदि लोक बनते हैं तब वह शरीर को धारण करता है। अर्थात् जो जान जाते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। और जो नहीं जान पाते, वे पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमण करते हैं। वास्तव में मनुष्य-शरीर सृष्टिरचना का अंतिम सोपान है, जो सबसे अन्त में बनता और सबसे पूर्व नष्ट होता है। यदि इस सोपान=सीढ़ी, से लक्ष्य पर पहुँच गया, तो सफलता हो गई। यदि गिर गया तो अधम अवस्था में पहुँच गया। प्रत्येक मनुष्य को अवश्य इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम अन्तिम सोपान पर आ पहुँचे हैं, जहाँ थोड़ा भी प्रमाद सारे परिश्रम को नष्ट कर देगा। जितना शीघ्र हो सके परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जितनी प्राकृतिक वस्तुएँ हैं, वे न तो जीवात्मा के लिये कभी उपयोगी थीं, न अब हैं, न आगे होंगी, क्योंकि आत्मा पर प्राकृतिक प्रभाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म।

प्रश्न—सारे कर्म्म तो प्राकृतिक करणों [हाथ, पैर आदि] से होते हैं, पुनः प्रकृति जीवात्मा के लिये उपयोगी क्यों नहीं।

उत्तर—कर्म्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि अथवा मैला-

पन होता है। यदि बुरा कर्म्म किया जाये, तो अन्तःकरण पर बुरे संस्कार पड़ेंगे, जिससे मन मलिन हो जायेगा। यदि कर्म्म शुभ और निष्काम होंगे तो अन्तःकरण पर भले संस्कार पड़ेंगे और मन शुद्ध होगा। शुभ कर्मों के शुभ संस्कारों का फल सांसारिक सुख है। कर्म्म से मुक्ति या आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती। आत्मा की उन्नति केवल परमात्मा के ज्ञान और उपासना से होती है ॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्व-लोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

पदार्थ—(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में [मनुष्य अपना मुख देख लेता है] (तथा) वैसे (आत्मनि) शुद्ध, निर्मल, बुद्धि रूपी अन्तःकरण में [ध्यानसे आत्मा को] देखता है] (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्न में [स्वप्न दशा में इन्द्रियों और वस्तुओं का सम्बन्ध न होने पर भी पदार्थ प्रत्यक्ष-से दीख वा सुन पड़ते हैं] (तथा) वैसे (पितृलोके) ज्ञानी जनों के उपदेश में [बन्धे हुए ध्यान से आत्मा को देखता है] (यथा) जैसे (अप्सु ; जल में (परि + इव) सब ओर से [गोलाकार स्पष्ट अवयवों की प्रतीति के बिना] (ददृशे) शरीर दीखता है (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके) गाने वालों के विज्ञान संबंधी गान में किये ध्यान से [आत्मा को देखता है] (छायातपयोः + इव) जैसे छाया और घाम = धूप में भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, वैसे (ब्रह्मलोके) ब्रह्मरन्ध्र = मूर्द्धा=मस्तक में किये निर्बीज निर्विकल्प समाधि से * बुद्धि और पुरुष का भेद स्पष्ट दीख पड़ता है।

भावार्थ - सब ध्यानों में मूर्द्धा में किया ध्यान सबसे उत्तम है, वहाँ समाधि लगा, आत्मा परमात्मा को स्पष्ट रूप से जानकर, मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥५॥

* चित्त की वृत्तियों के निरोध (रोकने) को समाधि कहते हैं। योग और समाधि एक वस्तु है। सब ओर से हटकर किसी एक वस्तु में चित्त के लगने को 'चित्त की एकाग्रता' कहते हैं, किसी भी विषय में लगे बिना, चित्त-वृत्तियों का निर्व्यापार हो जाना 'निरोध' कहलाता है। 'चित्त की एकाग्रता' की अवस्था को योगी 'संप्रज्ञात' समाधि नाम देते हैं और चित्त की निरुद्ध अवस्था को 'असंप्रज्ञात' समाधि कहते हैं। चित्त का जब किसी विषय से संबंध होता है, उसका ज्ञान अवश्य होता है, एकाग्र दशा में एक पदार्थ में चित्त लगा है, अतः उसका ज्ञान अवश्य होता है ; इसलिये उस अवस्था का नाम 'संप्रज्ञात' [जिसमें ज्ञान हो रहा है] है। 'निरोध' की अवस्था में किसी बाह्य विषय से चित्त का सम्बन्ध नहीं रहता, अतः उसको असंप्रज्ञात [जब बाह्य विषयों का भान ही नहीं होता] कहते हैं। संप्रज्ञात समाधि को 'सबीज समाधि' भी कहते हैं क्योंकि संकल्प विकल्प उठने का बीज 'विषय' वहाँ है। सबीज समाधि के सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार चार भेद हैं। इनके लक्षणों के लिये योगदर्शन प्रथम पाद देखिये। इनमें चौथे निर्विचार के दृढ़ मूल होने पर मन और आत्मा सर्वथा विमल हो जाते हैं, जैसा कि योग दर्शन में कहा है—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥१।४७॥

निर्विचार समाधि की दृढ़ता पर अध्यात्म स्वच्छ हो जाता है। उसका फल है 'ऋतंभरा प्रज्ञा'=सर्वथा यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि, जिसमें असत्य का लवलेश भी नहीं होता। 'ऋतंभरा प्रज्ञा' के संस्कार अन्य संस्कारों को रोकने वाले होते हैं। उससे चूँकि आत्मा और प्रकृति का भेद भान होता है। अतः प्रकृति में दोषदर्शन के कारण आत्मा उपरत हो जाता है, उससे 'पर वैराग्य उत्पन्न होता है। वह 'पर वैराग्य' ऋतंभरा के संस्कारों का भी निरोध कर देता है। अब सब प्रकार के संस्कारों के बीज जल चुके हैं, अतः अब 'निर्बीज' समाधि हो जाती है। इस अवस्था में आत्मा सर्वथा अन्तर्मुख होता है, अतः उसे अपने अन्दर सदा रहने वाले परमात्मा के दर्शन होते हैं।

आत्मा और प्रकृति का भेद ज्ञात होने पर प्राकृतिक विषयों से जो सर्वथा ग्लानि होती है, उसे 'पर वैराग्य कहते हैं।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

पदार्थ—(इन्द्रियाणाम्) आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा जिह्वा आदि कर्मेन्द्रियों की (पृथग्भावम् पृथक् सत्ता को [अर्थात् ये आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा नहीं हैं] (उदयास्तमयौ) उन्नति-अवनति को, उत्पत्ति-विनाश को (च) और (यत्) जो [अर्थात् इन्द्रियाँ उत्पन्न होती और नष्ट होती हैं (पृथक्) अपने स्वरूप से पृथक् (उत्पद्य-) मानानाम्) उत्पन्न पदार्थों का (मत्वा) मनन करके या जान कर (धीरः) बुद्धिमान् या विशुद्ध बुद्धि वाला (न) नहीं (शोचति) शोकग्रस्त होता।

भावार्थ—जब तक मनुष्य इन्द्रियों को अपना स्वरूप= आत्मा समझता है, तभी तक चिन्ता और दुःख रहते हैं। इन्द्रियाँ उत्पत्ति और विकार वाली हैं, इनको आत्मा मानने वाला इनके नष्ट होने के भय से सदा व्याकुल और चिन्ता निमग्न रहेगा। जिस समय मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि मैं जीवात्मा हूँ और कि जीवात्मा नित्य है और कि ये इन्द्रियां उत्पत्ति-विनाश वाली हैं, ये आत्मा कैसे हो सकती हैं? जब इन्द्रियां मुझ से भिन्न हैं, तब उनके विकृत होने से मेरी क्या हानि या लाभ? मैं नित्य हूँ, मुझ में तो कोई विकार नहीं, किन्तु इन्द्रियां तो अशुद्ध और विकार वाली हैं, अतः मुझे अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये, न कि इनके विकारों में फंसना। उस समय वह शरीर और इन्द्रियों की चिन्ता से मुक्त हो जाता है। नित्य आत्मा की तो कोई हानि हो नहीं सकती। सारा दुःख उत्पत्ति-विनाश-युक्त इन्द्रियों के कारण से है।

प्रश्न—इन्द्रियों को अपने स्वरूप से भिन्न कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर—प्रतिदिन हम अपने जीवन में दो अवस्थाओं को देखते हैं। एक जागरित अवस्था और दूसरी सुषुप्ति दशा। जागरित अवस्था में हम इन्द्रियों को अपना स्वरूप= आत्मा मानते हैं और उनके विषयों को भोगते हैं। आँख से अच्छा रूप देखते हैं, कान से मनोहर शब्द सुनते हैं, नाक से अच्छी सुगन्ध सूँघते हैं, रसनेन्द्रिय से रस लेते हैं। उस दशा में सब दुःख भी आ जाते हैं अर्थात् ईर्ष्या, लोभ, कामवासना आदि आ घेरते हैं। सुषुप्ति दशा में जिसमें कोई इन्द्रिय नहीं होती, किसी प्रकार का दुःख, चिन्ता और शोक नहीं होता, क्योंकि उस समय इन्द्रियां जो आत्मा से भिन्न हैं, पृथक् होती हैं, उनसे आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। विधाता ने इस दृष्टान्त से स्पष्ट रीति से सुझा दिया है कि जब इन्द्रियों में 'अहं-कार' होगा अर्थात् जीव इनको 'मैं' 'मेरा' मानेगा, तब सब प्रकार के दुःख होंगे। ज्यों ही वह इनके 'अहं-कार' से रहित हुआ, त्यों ही सब दुःख भागे।

प्रश्न—इन्द्रियों के उत्पत्ति वाली होने तथा आत्मा के नित्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—इन्द्रियों में विकार हैं, जिससे उनकी शक्ति में न्यूनता और अधिकता होती रहती है। विकारवान् पदार्थ उत्पत्ति वाला होता है। विकार छः हैं, उनमें उत्पत्ति पहला विकार है। उत्पन्न वस्तु में उपचय=वृद्धि या अपचय=ह्रास हो सकता है, दूसरी में नहीं। जीवात्मा विकारशून्य है, अतः नित्य है।

प्रश्न—जीव की शक्ति में भी उपचय अपचय [वृद्धि ह्रास] देखा जाता है। इससे निश्चय होता है कि यह भी उत्पत्ति वाला है।

उत्तर—करणों के कारण चेतन की शक्ति में उपचय अपचय प्रतीत होता है; वास्तव में नहीं होता। दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से आंख दूर के पदार्थ को देख सकती है। अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा सूक्ष्म वस्तु को देख सकती है। साधारणतया आंख न बहुत सूक्ष्म को देखती है और न बहुत दूर। इसमें आंख की अपनी शक्ति में कोई भेद नहीं आया। यह तो करण शक्ति का भेद है। आत्मा संयोगज नहीं है। अतः करणों की शक्ति के तारतम्य से होने वाली

कार्य की न्यूनता-अधिकता से आत्मा विकार वाला या परिणामी नहीं हो सकता ॥६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥

पदार्थ—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों और उनके विषयों से (परम्) पर=सूक्ष्म है (मनः) मन, (मनसः) मन से (सत्त्वम्) बुद्धि (उत्तमम्) उत्तम है (सत्वात्) बुद्धि से (अधि) अधिक सूक्ष्म या उत्तम (महान् आत्मा) महत्तत्त्व= समष्टि बुद्धि=ब्रह्माण्ड का मन (महतः) समष्टि बुद्धि से (अव्यक्तम्) प्रकृति अर्थात् जगत् का उपादानकारण (उत्तमम्) उत्तम है, सूक्ष्म है।

भावार्थ—इन्द्रियों और उनके विषयों से मन सूक्ष्म है, बुद्धि मन से भी अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह मन का कारण है और बुद्धि की अपेक्षा समष्टि-बुद्धि (ब्रह्माण्ड का मन) अधिक सूक्ष्म है और प्रकृति समष्टि-मन की अपेक्षा सूक्ष्मतर है।

प्रश्न—तुमने यहां मन के दो भेद किये हैं, एक शरीरस्थ मन तथा दूसरा ब्रह्माण्ड का मन।

उत्तर—एक स्थान पर तो छान्दोग्योपनिषद् में* मन को भोजन से बना स्वीकार किया है। दूसरे, सांख्य दर्शन में मन को प्रकृति का कार्य बताया गया है, इसको महत्तत्व भी कहते हैं। भोजन से बना मन छोटा तथा शरीर के अन्दर हो सकता है, बाहर नहीं। प्रकृति से बना मन महत् परिमाण वाला होने के कारण महत्तत्व कहलाता है, यह ब्रह्माण्ड का मन है। परमात्मा को पुरुष कहते हैं, ब्रह्माण्ड मानो उसका शरीर-सा है। सांख्य सिद्धान्तानुसार उत्पत्ति के निमित्त इस ब्रह्माण्ड शरीर में अहंकार की आवश्यकता है और अहंकार मन का कार्य है, जब तक मन न हो अहंकार हो नहीं सकता।

प्रश्न—ब्रह्म के लिये अहंकार की आवश्यकता मानना उचित नहीं।

उत्तर—बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि—'इस सृष्टि से पूर्व ब्रह्म था। उसने अपने आपको जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ"। इसी "अहं ब्रह्मास्मि" वाक्य को आजकल वेदान्ती महावाक्य कह कर इससे जीव तथा ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं।

प्रश्न—ब्रह्म के सम्बन्ध में यह बात उपनिषद् में अपनी ओर से लिखी है या इसका मूल वेद में है ?

उत्तर—यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के १७वें मन्त्र में परमात्मा ने बताया है कि "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि' अर्थात् जो पूर्णपुरुष सूर्य के भीतर भी प्रकाश करता है वह मैं हूँ। अतः उपनिषद् का यह वचन वेदमूलक और युक्ति संगत है ॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

पदार्थ—(अव्यक्तात्) अव्यक्त=प्रकृति=जगत् के उपादानकारण से (तु) भी (परः) सूक्ष्म (पुरुषः) परमात्मा है (व्यापकः) सब की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सब में व्यापक [अर्थात् सबके अन्दर बाहर है] (अलिङ्गः) लिङ्गरहित, इन्द्रियागोचर (एव) भी (च) और (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर मुच्यते) मुक्त हो जाता है (जन्तुः) प्राणी (अमृतत्वम्) अमृतपद को अर्थात् जब न मरे ऐसी अवस्था को (च) और (गच्छति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—परमात्मा जगत् के उपादानकारण (प्रकृति) से सूक्ष्म है। वह प्रकृति के प्रत्येक अखण्ड अंश=परमाणु, में व्यापक है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जिसके भीतर बाहर परमात्मा न हो। अतः वह सबसे सूक्ष्म है, अतः उसका कोई ऐसा चिन्ह नहीं जो इन्द्रियों से अनुभव किया जा सके। केवल उसी को जान लेने से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

---

* अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः (६.५.१) अर्थात् खाये हुए अन्न की तीन दशाएँ होती हैं, उसका स्थूलतम भाग पुरीष=मल बनता है, मध्यम भाग मांस बनता है ; सूक्ष्मतम भाग मन बनता है।

प्रश्न—तुमने मुक्ति को अमृत क्यों कहा ? तुम तो मुक्ति से पुनरावृत्ति = वापस लौटना, मानते हो।

उत्तर—जीवात्मा की दो अवस्थाएँ हैं, एक वह जिसका अन्त मृत्यु है, अर्थात् पुनर्जन्म के कारण शरीरों में आना, दूसरी वह जिसका अन्त जन्म है, मृत्यु नहीं, जिसको अमृत कहा जाता है। अर्थात् जिस दशा में शरीर के बिना, अन्दर रहने वाले परमात्मा से आनन्द प्राप्त किया जाता है ; इसको मुक्ति भी कहते हैं। यदि मुक्ति में शरीर होता तो इसका अन्त मृत्यु होता। चूँकि मुक्ति में भौतिक शरीर नहीं होता, जिसके पृथक् होने का नाम मृत्यु रखें, अतः उसका नाम अमृत रखा गया।

प्रश्न—अनेक जन मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते। वे कहते हैं, वह मुक्ति ही क्या, जिससे लौटना हो ?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ छूटना है। छूटता वह है जो पहले बँधा हो। बन्धन के अर्थ बन्धना है। बन्धता वह है, जो मुक्त हो। ये शब्द ही बतला रहे है कि मुक्त बन्धता है। यदि मुक्त का बन्धन न माना जाये, तो बन्धन को स्वाभाविक मानना पड़ेगा, फिर मुक्ति का होना असम्भव हो जायेगा। अतः जो लोग मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते, उन्हों ने इस सिद्धान्त पर विचार ही नहीं किया। शङ्कराचार्य जी आदि तो मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं* ॥८॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

पदार्थ—(न) नहीं (सन्दृशे) सामने (तिष्ठति) ठहरता (रूपम्) रूप=आकार (अस्य) इस ब्रह्म का (न) नहीं (चक्षुषा) आँख से (पश्यति) देखता है (कश्चन्) कोई (एनम्) इस ब्रह्म को (हृदा) हृदय से (मनीषा) बुद्धि रूप (मनसा) सत्यासत्य का विचार करने वाली शक्ति से (अभिक्लृप्तः) सर्वत्र और सब ओर से प्रकाश करने वाला परमात्मा जाना जा सकता है। (ये) जो (एतत्) इस परमात्मा को (विदुः) जानते हैं (अमृताः) मृत्यु से रहित मुक्त (ते) वे जन (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—किसी मनुष्य की आँखों के सामने उस परमात्मा का कोई रंग रूप, आकार-प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होता अतः आंखों से कोई मनुष्य उसको नहीं देख सकता। आंख उस वस्तु को देख सकती है जिसमें रूप हो, रूप रहित किसी वस्तु को आंख नहीं देख सकती ॥९॥

यदि परमात्मा रूपरहित है, तो वह किस प्रकार जाना जाता है, इसके समाधान में कहते हैं—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

---

* छान्दोग्योपनिषद् के अन्तिम वचन 'न च पुनरावर्त्तते' के श्री शङ्कराचार्य कृत भाष्य पर टीका करते हुए उनके शिष्य स्वामी आनन्दगिरि ने लिखा है, इसका अर्थ है कि इस कल्प में नहीं लौटते। अभिप्राय यह है कि दूसरे कल्प में अवश्य लौटते हैं। यह बात है भी उचित, क्योंकि मुक्ति की अवधि एक कल्प है। जो लोग जीव ब्रह्म का अभेद मानते हैं कि अविद्या के कारण ब्रह्म अपने आप को जीव मान बैठता है, यही उसका बन्धन है। अर्थात् अविद्या के कारण ब्रह्म बन्धन में आता है। ब्रह्म तो मुक्त है, सदा मुक्त है। 'ब्रह्म का बन्धन में आना' का अर्थ हुआ मुक्त ब्रह्म का बन्धन में आना। मुक्त का बन्धन में आना ही पुनरावृत्ति है। अतः शङ्कराचार्यादि का सिद्धान्त ठहर ही नहीं सकता, यदि वे मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानें। थोड़ा-सा और विचार कीजिये। मुक्ति यदि अभाव पदार्थ है, तब तो इस से वापसी का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि अभाव=प्रध्वंसाभाव का आदि तो होता है, अन्त नहीं होता। किन्तु ऐसा भाव पदार्थ कोई भी नहीं, जिसका आदि हो और अन्त न हो। मुक्ति दुःखध्वंसपूर्वक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को कहते हैं। अर्थात् मुक्ति भाव पदार्थ है, अभाव नहीं अतः इस का आदि होने से अन्त भी अवश्य होगा। मुक्ति का अन्त होने पर मुक्त जीव फिर शरीर धारण करते हैं।

पदार्थ—(यदा) जब (पंच) पाँच (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं, निश्चल हो जाती हैं, चंचलतारहित हो जाती हैं (ज्ञानानि) योगाभ्यास द्वारा अपने विषयों से हटाई हुई ज्ञानेन्द्रियाँ (मनसा+सह) मन के साथ (बुद्धिः) सत्वगुणमयी बुद्धि (च) भी (न) नहीं (विचेष्टते) चेष्टा करती, विषयों में प्रवृत्त नहीं होती। विद्वान् जन (ताम्) उस अवस्था को (आहुः) कहते हैं (परमाम्+गतिम्) परम गति= सर्वश्रेष्ठ अवस्था=जीवनमुक्त दशा।

भावार्थ—जब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि स्थिर हो जाती हैं, विषय वासनाओं में प्रवृत्त नहीं होतीं, वह सर्वोत्तम दशा होती है, उसी के लिये ही सारे यत्न हैं। ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

पदार्थ—(ताम्) उसे (योगम् + इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (स्थिराम्) स्थिर (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियधारणा=इन्द्रियों की अचंचल अवस्था को (अप्रमत्तः) प्रमादरहित, अत्यन्त सावधान (तदा) तब (भवति) होता है। (योगः) योग (हि) सचमुच (प्रभवाप्ययौ) उत्पत्ति विनाश है, अर्थात् पवित्र, शुभ, कल्याणकारी संस्कारों की उत्पत्ति से दुष्ट, अहितकारी संस्कारों का विनाश है।

भावार्थ—जब योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियाँ सर्वथा वश में कर ली जाती हैं, तब योगसिद्धि का निश्चय होने लगता है। योगाभ्यास में यमनियमादि के अभ्यास से दुष्ट विचार, दुष्ट आचार का त्याग और पवित्र विचार तथा शुद्धाचार का धारण अत्यन्त आवश्यक होता है। अतः व्यवहार शुद्धि से दुष्ट संस्कारों का अप्यय = अभाव = विनाश और शुभ संस्कारों का प्रभव = उदय = उत्पत्ति होती है। योगसिद्धि होने पर साधक सर्वथा सावधान हो जाता है, वह कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे पतन हो, क्योंकि वह विषयों की वास्तविकता को समझ चुका होता है ॥११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

पदार्थ—(न) न (एव) तो (वाचा) वाणी से (न) न (मनसा) मन से (प्राप्तुम्) प्राप्त किया (शक्यः) जा सकता है (न) न (चक्षुषा) आँख से। वरन् (अस्ति + इति) ब्रह्म है (इति + ब्रुवतः) ऐसा कहने वाले से (अन्यत्र) अन्यत्र (कथम्) कैसे (तत्) वह (उपलभ्यते) प्राप्त किया जाता है। [अर्थात् उसकी सत्ता का संवेदन आत्मा को होता है, आत्मनिष्ठ ध्यानी ही उसकी सत्ता के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि 'यह है'। दूसरा कोई कैसे कहे। [अर्थात् स्वयं अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—इन्द्रियाँ रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। परमात्मा शब्द आदि से सर्वथा भिन्न होने के कारण इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। आस्तिक साधक अपने अभ्यासजनित अनुभव के आधार पर कहते हैं कि परमात्मा है और अवश्य है, किन्तु इन्द्रियों से परोक्ष है। पदार्थों में जो तारतम्य=न्यूनता अधिकता, छोटाई बड़ाई दिखलाई देती है, यह बताती है कि एक ऐसी दशा भी चाहिये, जिसमें तारतम्य न हो; जिससे और कोई महान् न हो वह अवस्था परमात्मा की है। संसार में ऐश्वर्य का तारतम्य दिखाई देता है, कोई लक्षाधिपति है तो कोई करोड़ों का स्वामी है। इसी प्रकार जहां ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो, जिसे और ऐश्वर्य प्राप्त करने की कामना न हो वह परमात्मा है। इसी प्रकार ज्ञानियों में भी भेद हैं, कोई कुछ जानता है, कोई कुछ। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, किन्तु ज्ञान की यह भिन्न अवस्थाएँ संकेत कर रही हैं कि कोई ऐसा होना चाहिए जिसमें अज्ञान का लवलेश न हो, जो सर्वज्ञ हो; वह परमात्मा है। संसार में कार्यकारण शृङ्खला सर्वत्र कार्य कर रही है। जगत् में सर्वत्र विकार—उत्पत्ति, विनाश आदि कार्य करते दृष्टिगोचर होते हैं, इससे जगत् के जन्य=उत्पत्ति-

मान् होने का निश्चय होता है। उत्पत्ति के लिये कर्त्ता चाहिए, संसार में दीखने वाले मनुष्य आदि किसी में इस विशाल संसार के रचने का सामर्थ्य नहीं दीखता, विकारवान् होने के कारण रचा हुआ यह अवश्य है, अतः इसके रचने वाला कोई न कोई अवश्य होना चाहिये; वही परमात्मा है ॥१२॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

पदार्थ—(अस्ति) 'वह ब्रह्म है' (इति) इस धारणा से (उपलब्धव्यः) उसे प्राप्त करना चाहिये (तत्वभावेन) वास्तविक दशा के द्वारा (च) और (उभयोः) दोनों की (अस्ति) वह है (इति) इस प्रकार (उपलब्धस्य) प्राप्त करने वाले का (तत्वभावः) तात्विक स्वरूप (प्रसीदति) शुद्ध होता है।

भावार्थ—'है' और 'नहीं है' (अस्ति और नास्ति) की विवेचना करने से निश्चित होता है कि परमात्मा है। ऐसा मानना और जानना और तदनुसार आचरण करना कल्याणकारी है। जो मनुष्य भाव और अभाव पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानकर सर्वत्र विद्यमान् परमात्मा को जान लेता है, उसका आत्मा और अन्तःकरण विमल हो जाते हैं, उसके सब दोष धुल जाते हैं और अपूर्व सुखदायिनी शान्ति प्राप्त होती है ॥१३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

पदार्थ—(यदा) जब (सर्वे) सब (प्रमुच्यन्ते) छूट जाती हैं (कामाः) विषयों की अभिलाषायें (ये) जो (अस्य) इस मनुष्य के (हृदि) हृदय में, अन्तःकरण में (श्रिताः) रह रही थीं, बसी हुई थीं। (अथ) तब (मर्त्यः) मरणधर्म्मा मनुष्य (अमृत=मुक्त (भवति) हो जाता है और (अत्र) इसी जन्म में (ब्रह्म) ब्रह्म को, मुक्ति को (समश्नुते) भली प्रकार प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—चिरकाल से हृदय में नाना प्रकार के विषय भोगों की वासनाओं ने घर कर रखा है। उन्हीं वासनाओं से बन्धा जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में आता है। जब साधक योगाभ्यास द्वारा इन सारी वासनाओं का समूलोन्मूलन करता है, तब उसकी मुक्ति होती है। वासनाओं के कारण विषयों में राग होता है। राग बन्धन का हेतु है। विवेक द्वारा विषयों में दोषदर्शन करने से राग नष्ट होता है, फिर विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। विषयों में प्रवृत्ति न होने से आत्मा की पराङ्मुखता=बहिर्मुखवृत्ति नष्ट हो जाती है और आत्मा अन्तर्मुख होता है। अन्तर्मुख होते ही उस आत्मा में रम रहे अन्तर्यामी ब्रह्म के दर्शन होते हैं ॥१४॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

पदार्थ—(यदा) जब (प्रभिद्यन्ते) टूट जाती हैं, (हृदयस्य) हृदय की, अन्तःकरण की (इह) इसी जन्म में (ग्रन्थयः) गांठें (अथ) तब (मर्त्यः (मरणधर्मा मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) हो जाता है। (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) परम्परा से चला आता शास्त्रोपदेश है।

भावार्थ—नचिकेता के तीसरे प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हुए यमाचार्य कहते हैं—नचिकेतः! चिरकालीन वासनाओं के कारण अन्तःकरण में राग-द्वेष, लोभ-मोह, मद, ईर्ष्या, मत्सर, काम, क्रोध की अनेक गांठें पड़ जाती हैं। उनके कारण किसी को मित्र, किसी को शत्रु, किसी को अपना, किसी को पराया समझने लगता है, इससे उन गांठों में और बल पड़ता है, ऐंठन आती है। विवेकशील इन गांठों के कारण को पहचान कर उसे नष्ट करने का उपाय करता है। इससे अहंकार, ममकार की सब गांठें खुल जाती हैं। गांठें जब खुल गई, बन्धन स्वतः ही छूट गये, फिर मुक्त होने में क्या त्रुटि रह गई। नचिकेतः! ब्रह्मविद्या का यही सार है ॥१५॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

संकेत से मरण समय में मुक्त मनुष्य की पहचान बताते हैं—

पदार्थ—(शतं) सौ (च) और (एका) एक (हृदयस्य) हृदय की (नाड्यः) नाड़ियां हैं (तासाम्) उनमें से (मूर्धानम्) सिर की (अभि) ओर (निःसृता) निकली है (एका) एक (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (आयन्) आता हुआ (अमृतत्वम्) मुक्ति को (एति) प्राप्त करता है (विष्वङ्) सब ओर से (अन्याः) दूसरी (उत्क्रमणे) जन्म मरण का निमित्त (भवन्ति) होती हैं।

भावार्थ- शरीर में अनेक छिद्र हैं, मरण समय इनमें से किसी न किसी के द्वारा आत्मा निकल जाता है। यमाचार्य्य कहते हैं कि हृदय की अनेकों नाड़ियों में एक नाड़ी ऊपर को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाती है। जीवन्मुक्त योगी मृत्यु का समय आया देख प्राणों को रोक कर आत्मा को उस नाड़ी के द्वारा बाहर निकाल देते हैं। इसके बाद उनकी मुक्ति हो जाती है। इसी नाड़ी को सुषुम्ना भी कहते हैं। जिन्होंने मानुष जीवन का भोगविलास में विनाश किया है, उन्हें तो आत्मा का, तथा आत्मा की उत्क्रान्ति आदि का ज्ञान ही नहीं होता। अतः उन्हें अपनी मृत्यु समीप आई हुई भी नहीं दीखती। उनके प्राण किसी अन्य मार्ग से निकलते हैं। फलतः वे जन्म मरण के प्रवाह में पड़े रहते हैं ॥१६॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

पदार्थ—(अङ्गुष्ठमात्रः) अंगुष्ठमात्र=हृदय स्थान में रहने वाला (पुरुषः) शरीरेन्द्रिय आदि का रक्षक (अन्तरात्मा) अन्तरात्मा (सदा) सदा (जनानां) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (संनिविष्टः) प्रविष्ट है, स्थित है। (तम्) उसको (स्वात्) अपने (शरीरात्) शरीर से (प्रवृहेत्) निकाले, पृथक करे (मुञ्जात्) मुञ्ज से (इव) जैसे (इषीकाम्) सींक को, तीली को (धैर्येण) धैर्यपूर्वक। (तम्) उसको (विद्यात्) जाने (शुक्रम्) शुद्ध (अमृतम्) अविनाशी। [तं विद्यात्च्छुक्रममृतम्। का दूसरी बार पाठ उपदेश की समाप्ति को सूचित करता है।]

भावार्थ – जब तक शरीर में चेष्टा है, तब तक इसमें जीवात्मा का अवश्य वास है। इसका स्थान बहुत छोटा है हृदयाकाशमात्र। चिरकाल की वासनाओं के कारण, इसे शरीर से मोह हो गया है, अज्ञान के कारण शरीर के नाश के साथ अपना नाश मानता है। सच पूछो तो यह शरीर बहुत बड़ा बन्धन है। जैसे कोई कैदी बहुत दीर्घकाल तक कारावास में रहा हो, तो उसे उस जेल से ममता हो जाती है, वह उसे छोड़ने के विचार से कांप जाता है। यही अवस्था चिरकाल से शरीर—कारावास में रहने से जीवात्मा की हो गई है। बुद्धिमान् विवेकी को चाहिये कि धैर्यपूर्वक लगातार अभ्यास से आत्मा को शरीर की अनिष्टकारिता का बोध कराये, और इसे बाहिर निकाले। मुंज से सींक निकालने का संकेत बतलाता है कि पंचकोशों से आत्मा का भेद समझकर कार्य करे। आत्मा वास्तव में शुद्ध और अमृत है किन्तु शरीर इन्द्रियों आदि को अपना स्वरूप मानने से अपने आपको मलिन और विनाशी मान रहा है। मनुष्य को चाहिये कि आत्मा को उसके यथार्थ रूप में समझे ॥१७॥

मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

पदार्थ—(मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु की उपदेश की हुई (नचिकेतः नचिकेता (अथ) तब (लब्ध्वा) प्राप्त करके

(विद्याम्) विद्या को (एनाम्) इस (योगविधिम्) योग-विधि को (च) भी (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (ब्रह्म प्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त करके (विरजः) दोषरहित=विरक्त (अभूत्) हो गया। (विमृत्युः) मृत्युरहित (अन्यः) दूसरा (अपि) भी हो (एवम्) ऐसे, इसी तरह (यः) जो (अवित्) जाने (अध्यात्मम्) अध्यात्म को (एव) ही।

भावार्थ—पाठकों का उत्साह बढ़ाने के लिये ग्रन्थकार यथार्थ घटना का उल्लेख करता है। ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधि का विधिवत् अनुष्ठान करने से नचिकेता के मल विक्षेप आवरण आदि सब दोष दूर हो गये, क्योंकि अभ्यास से उसने ब्रह्म प्राप्ति कर ली थी। इसी प्रकार जो साधक अध्यात्म को जानेगा अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा और परमात्मा को यथार्थ रूप से जानेगा वह भी मुक्त हो जावेगा अर्थात् यह करनी की विद्या है, केवल कथनी से कुछ नहीं बन सकता ॥१८॥*

---

* ऐसा प्रतीत होता है कि कठोपनिषत् का भाष्य समाप्त करने से पूर्व ही भाष्यकार स्वामीजी का देहान्त हो गया। प्रथम संस्करण से ज्ञात होता है, अन्तिम के छठे वचन के आगे उनका भाष्य नहीं है। वैसे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह अंश स्वामीजी की रचना नहीं हैं। हमने इस संस्करण में कुछ थोड़े से फेर-फार के साथ उसी को वैसा रहने दिया है। सम्भव हुआ तो अगले संस्करण में भाष्यकार के भाव और शैली के समान शेष वाक्यों का भाष्य कर देंगे।

इति कठोपनिषत्—षष्ठवल्ली समाप्ता, द्वितीयोऽध्यायश्च।

इति श्रीमद्दर्शनानन्दस्वामि कृतस्य कठोपनिषद्भाष्यस्य

श्रीमत्स्वामिवेदानन्दतीर्थ कृतं सटिप्पणं भाषान्तरं पूर्त्तिमगात् ॥

ओं शान्तिश्शान्तिः शान्तिः

—शुभं भूयात्—

ओ३म्

अथ कठोपनिषत्सारः

'उपनिषद्' = उप + नि + षद् का अर्थ है पास जाकर सर्वथा विचारण करना, कराना, जानना, पाना अर्थात् गुरु के पास जाकर अपना अज्ञान निवारण कर कराके अध्यात्म को जानना तथा पाना। पुरातन काल में आत्मस्वरूप के जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाकर उनकी सेवा में रहते थे और इस उपनिषद्विद्या का अभ्यास करके आत्मतत्त्व को प्राप्त किया करते थे। उस विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों का नाम भी उपनिषत् पड़ गया। 'उपनिषत्' अब तो सैकड़ों तक जा पहुँची है, किन्तु प्रमाणिक दस ही हैं। यथा—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक। हम बता चुके हैं कि ईशोपनिषत् सब उपनिषदों का मूल है, शेष उपनिषदें उसका व्याख्यान हैं। यह कठोपनिषत् वास्तव में 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।—' का विस्तृत व्याख्यान है। यह भी हम बता चुके हैं कि ब्रह्मविद्या का सबसे बड़ा गुरु मृत्यु है। इस उपनिषत् में उसी मृत्यु महागुरु से ब्रह्मविद्या का उपदेश कराया गया है। ब्रह्मविद्या के प्रायः सभी अंगों पर विस्तार से इस उपनिषत् में प्रकाश डाला गया है।

इस उपनिषत् में नचिकेता और मृत्यु=यम का सम्वाद है। नचिकेता जिज्ञासु है, यम उसकी शंकाओं का समाधान

करते हैं। कई भाष्यकारों ने यम और नचिकेता को वास्तविक व्यक्ति मान कर इसे इतिहास माना है। दूसरे इसे काल्पनिक कथानक मानते हैं। चाहे यह इतिहास हो चाहे यह रूपक, वस्तुस्थिति में कोई भेद नहीं पडता। हमारा अपना मत रूपक मानने वालों के साथ मिलता है। तीसरी वल्ली के १६ वें वाक्य में इस उपाख्यान को सनातन=सदा से चला आता हुआ कहा है। जैसे—

'नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।'

अर्थात् मृत्यु का उपदेश किया हुआ नचिकेता-सम्बन्धी सनातन उपाख्यान।' यदि किसी समय विशेष की घटना होती तो इसे 'सनातन' कैसे कहते ?

हमारे विचार में 'नचिकेता' का अर्थ है सन्देह न करने वाला अपने लक्ष्य से च्युत न होने वाला। अस्तु।

उपनिषत् का आरम्भ बहुत सुन्दर रीति से हुआ है। एक सज्जन 'उशन् वाजश्रवस' संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की कामना से सर्वस्वदक्षिण=सर्ववेदस यज्ञ करते हैं। सब सम्पत्ति दान दे डालते हैं। दक्षिणा में दी गई गौएँ बहुत बूढ़ी थीं। इतनी बूढ़ी कि स्वयं जल भी न पी सकती थीं, दूध देने की बात तो दूर रही। उस 'उशन्' का पुत्र 'नचिकेता' यह देखकर सोचता है कि पिताजी से पुण्य के बदले पाप हो रहा है। यज्ञ में अहत अक्षत अविकलाङ्ग पदार्थों का उपयोग किया जाता है। ये क्षीणकाय गौएँ देकर पिताजी को पाप लगेगा। इससे तो अच्छा है कि पिताजी मेरा दान कर दें। इस विचार के आते ही उसने अपने पिता से कहा कि मुझे किसके प्रति दान करोगे ? दो बार कहने पर पिता ने कोई उत्तर न दिया। तीसरी बार कहने पर मानो आवेश में आकर पिता ने कहा—'मृत्यवे त्वा ददामि'=तुझे मौत के प्रति देता हूं अर्थात् तुझे मृत्यु के हवाले करता हूँ। आपाततः तो इसका यही अर्थ प्रतीत होता है कि तू मर जा, किन्तु कोई भी पिता पुत्र का मरना पसन्द नहीं करता और फिर संन्यास दीक्षा लेने में तत्पर कोई विरक्त, जिसको यह घोषणा करनी पड़ती है—'मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु' मुझसे किसी प्राणी को भय न हो, कैसे ऐसे कठोर वचन कह सकता है ? इस वचन का तात्पर्य है 'तू मृत्यु का रहस्य जान'। जैसे—यज्ञोपवीत संस्कार करते समय आचार्य शिष्य के दक्षिणस्कन्ध पर अपना दक्षिण हाथ रख कर कहता है—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसः, अन्तक ! इदं ते परि ददामि अमुम् ॥ (मं. ब्रा. १।६।२०)

अर्थात् 'तू प्राणों की ग्रन्थि है, शिथिल मत हो। हे अन्तक ! यह अमुक बालक [यहां बालक का नाम लेना होता है] तुझे देता हूँ।

यहां 'अन्तक' के प्रति बालक के देने का प्रतिपादन है। अन्तक का अर्थ है मृत्यु। कठोपनिषत् में कहीं यम, कहीं मृत्यु और कहीं अन्तक शब्द का प्रयोग है। क्या यज्ञोपवीत के समय आचार्य्य नये शिष्य को मारने की तैयारी कर रहा है ? मानना पड़ेगा कि आचार्य्य का यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता। वरन् आचार्य्य के उस कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि तू मौत के रहस्य को जान। संसार के लोगों को मृत्यु बहुत भयानक लगता है। तू इसे जान कि वह क्या है ? अतः उशन् का अभिप्राय भी नचिकेता को मारने का नहीं वरन् मृत्यु की वास्तविकता समझने की प्रेरणा का है।

पिता के इस वचन को सुनकर नचिकेता सोच में पड़ गया। उसके चित्त में आया मैं सर्वथा निकृष्ट तो हूँ नहीं, फिर पिताजी ने ऐसी बात मुझे क्यों कही ?

नचिकेता आचार्य के घर जाता है। आचार्य्य वहां उपस्थित नहीं, तीन दिन बाद आचार्य्य आता है। उसे घर वाले एक अतिथि के आने और तीन दिन भूखे रहने की बात कहते हैं। आचार्य्य जलादि लेकर नचिकेता के पास जाते हैं। उसे नमस्ते कहते हैं। उसके भूखे रहने के कारण क्षमा याचना-सी करते हैं और उसे तीन वर मांगने को कहते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। घर आये अतिथि का सत्कार करना चाहिये, गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि कहीं उसके घर आकर कोई अतिथि भूखा-प्यासा तो नही रहा। अध्यात्म विद्या के प्रसंग में इस बात की चर्चा बहुत महत्वपूर्ण है। अध्यात्माभ्यास के लिये भी लौकिक शिष्टाचार अत्यन्त आवश्यक है। यम तो अतिथि को रिझाने में अपना कल्याण मानते हैं, तभी तो उन्हों ने कहा—*'स्वस्ति मे अस्तु'* ताकि मेरा भला हो।

अब नचिकेता का शिष्टाचार देखो। जब वर माँगने लगा तो सब से पहला वर अपने पिता के चित्त की शान्ति, और चिन्ता शून्यता का मांगा। पिता कहता है *'मृत्यवे त्वा ददामि'*—तुझे मृत्यु के हवाले करता हूं। किन्तु नचिकेता कहता है —

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

कठो॰ १ वल्ली।

हे यमराज महाराज! मेरा पहला वर यह है, कि मेरे पिताजी उद्विग्न हो रहे होंगे, उनका उद्वेग=घबराहट दूर हो जावे। उनका चित्त निश्चिन्त हो जाये। मुझ पर उन्हें क्रोध है, वह हट जाये। आप से जब छूट के जाऊँ, तो मुझसे प्रसन्न मुख होकर बात करें।

उपनिषत्कार, मानो, पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि इस अध्यात्म मार्ग में चलने वाले को लोक-व्यवहार अत्यन्त विशुद्ध और शास्त्रमर्यादा के अनुकूल बनाना चाहिये। यदि हमारा आचार-व्यवहार शुद्ध, निर्मल एवं शास्त्र-मर्यादा के अनुसार नहीं है, तो इस मार्ग में चलने का तो साहस ही नहीं करना चाहिये। उपनिषत् के कथन के अनुसार तो यह मार्ग—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

कठो॰ ३।१४।

छुरे की तेज़ दुलंघ्य धारा है। ज्ञानी जन इस मार्ग को दुर्गम बताते हैं।

यम ने उसे आश्वासन=तसल्ली दी और कहा ऐसा ही होगा। तब उसने दूसरा वर मांगा। दूसरा वर यह है—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

कठो॰ १ वल्ली।

हे गुरुदेव! मैंने सुन रखा है कि स्वर्गलोक में कोई भय नहीं न वहाँ तू=मौत है, और न बुढ़ापे का डर है, भूख-प्यास भी नहीं सताती, शोक-मोह से छूट कर आनन्द-विभोर रहता है। स्वर्गवासी मुक्ति पाते हैं। आप उस स्वर्ग देने वाले अग्नि=योगाग्नि को जानते हैं। मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश कीजिये। यह मेरा दूसरा वर है।

अनेक लोग, जो मध्यकाल के संस्कारों में पले हैं, समझते हैं कि नचिकेता ने यहाँ पौराणिक स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत यज्ञविधि को जानने की इच्छा की है, किन्तु उनका यह भ्रम है। इस प्रश्न में नचिकेता ने स्वर्ग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह तो मुक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि पौराणिक स्वर्ग से तो—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकमाविशन्ति।

पुण्य समाप्त होने पर पुनः मृत्युधाम में आना पड़ता है। किन्तु नचिकेता कहता है—

स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते।

स्वर्गस्थ मोक्ष भोगते हैं। पौराणिक स्वर्ग में भूख प्यास, च्युति का भय आदि सब कुछ है, किन्तु नचिकेता के स्वर्ग में—

स्वर्गेलोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते ब्रह्मलोके ॥

न भय है, न मौत है, न बुढ़ापे का डर है। न भूख प्यास, न शोक मोह। वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। अतः नचिकेता का स्वर्ग कोई काल्पनिक केवल पुस्तकस्थ स्वर्ग नहीं, वरन् मोक्षधाम उसका स्वर्ग है। तभी तो यम ने बताते हुए कहा—

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

वह अग्नि अनन्त लोक की प्राप्ति का आधार-सा है। (आनन्द से ही सभी जीते हैं) किन्तु यह तुम्हारे हृदय की गुफा में है।

यदि यह स्वर्ग कहीं अन्यत्र होता, जैसा कि मतवादी लोगों ने कल्पना कर रखी है, तो यम यह कभी न कहते कि 'तुम इसे अपने हृदय में छिपा हुआ जाना।'

समझाते हुए यम ने इस 'स्वर्ग्य अग्नि' को 'लोकादि अग्नि' कहा है। अनेक लोगों ने 'संसार का आदि अग्नि' अर्थ किया है। यह सन्तों के संकेत हैं, पोथी-पण्डित इन्हें नहीं जानते, अतः लोगों को व्यर्थ में भ्रमाते हैं—'लोकादि का अर्थ है—*लोकं संसारमत्ति नाशयति सः लोकादिः*=जो संसार को खा जाये, उसे लोकादि कहते हैं। विषय-वासना का चक्कर ही संसार है, राग-द्वेष में फँस कर इधर-उधर दौड़ने का नाम ही संसार है। ज्ञान=यथार्थ बोध होने पर विषयवासना दग्ध हो जाती है। गीता में क्या ही अच्छा कहा है—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन'

ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को [संसार के देने वाले कर्म्मों को] भस्म कर देता है।

यज्ञाग्नि तो कर्मों का विस्तार कराता है। अतः नचिकेता का प्रश्न यज्ञाग्नि के सम्बन्ध में न होकर योगाग्नि=योगज्ञान के सम्बन्ध में है।

यम ने जो उत्तर दिया है, उसका यहाँ उल्लेख नहीं है, केवल इतना ही है कि उसमें जो जितनी और जिस प्रकार इष्टकाएँ=ईंटें लगती हैं, यम ने वे बतला दीं। इसी के कारण लोगों को भ्रम हुआ है। यम ने नचिकेता को योग के अंग धारणा, ध्यान आदि की विधि बतलाई। नचिकेता कुशाग्र बुद्धि वाला था, उसने भी वह सुनकर दोहरा दी।

अनेक जनों को देखा है कि वे योगी गुरु के मुख से योगविधि सुन कर भी नहीं बता सकते, क्योंकि उनकी समझ में ही बात नहीं आई होती।

आगे जो तीसरा प्रश्न है, उसकी तय्यारी के लिये भी योग साधन की आवश्यकता है। फिर उपनिषत् के अन्त में कहा है कि—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूत् ॥ कठो० ६।१८

तब नचिकेता मृत्यु की उपदिष्ट इस विद्या तथा सम्पूर्ण योगविधि को प्राप्त करके, ब्रह्म को प्राप्त हुआ और विरज=दोषरहित हो गया।

यदि दूसरे वर द्वारा उसने योगविधि का ज्ञान नहीं चाहा, तो योगविधि का उपदेश इस उपनिषत् में कहां किया गया है? अतः यही मानना उचित है कि दूसरे वर द्वारा नचिकेता ने योगविधि की जिज्ञासा की। नचिकेता ने गुरु मुख से सुनकर उसे उसी समय, यह जानने के लिये कि मैं ठीक समझा हूँ कि नहीं वह सुना दिया। गुरु नचिकेता की इस मेधाबुद्धि से अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा यह विद्या संसार में तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी अर्थात् अब लोग इसे 'नचिकेत अग्नि' कहा करेंगे। नचिकेत अग्नि के चयन=अनुष्ठान का फल मुक्ति बतला कर यम ने कहा, तीसरा वर मांग।

यह तीसरा वर ही कठोपनिषत् का प्राण है, ब्रह्मज्ञान

है। यदि इस प्रश्न को समझ लिया जाये, तो ब्रह्मविद्या हस्तामलकवत् हो जाये। नचिकेता ने ऐसा प्रश्न किया है कि जिसमें कई प्रश्न हैं। इसे प्रश्नों का प्रश्न कहना अनुचित नहीं। नचिकेता ने कहा, महाराज !

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतत्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ कठो० १।२०

मनुष्य के मरने पर यह सन्देह होता है कि मरने के पीछे रहता है या नहीं, कोई कहता है मरने के पश्चात् भी रहता है, कोई कहता है नहीं रहता है। आपके उपदेश से मैं इस रहस्य को समझना चाहता हूँ, यह मेरा तीसरा वर है।

कई लोगों का भ्रम है कि यह प्रश्न केवल पुनर्जन्म विषयक है। वास्तव में यह बात नहीं है। इस प्रश्न में इतने गर्भित प्रश्न हैं—१. क्या पुनर्जन्म होता है ? २. होता है तो किसका पुनर्जन्म होता है ? किन कारणों से होता है ? अर्थात् कर्मों के फल के अनुसार होता है या वैसे ही ? ४. कौन पुनर्जन्म कराता है ? कर्मफल प्रदाता कोई है या नहीं ? ५. पुनर्जन्म मानने की अवस्था में पुनर्जन्म ग्रहण करने वाला शरीर इन्द्रियादि है या इनसे कोई भिन्न ? ६. पुनर्जन्म से छूटने का उपाय क्या है ?

इन प्रश्नों की विवेचना किये बिना पुनर्जन्म विषयक निर्णय नहीं हो सकता। ध्यान से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रश्न द्वारा नचिकेता ने शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मा, परमात्मा, कर्म्म कर्म्मजन्य, संस्कारों के स्वरूप विषय में जिज्ञासा की है। नचिकेता को उपनिषत् के आरम्भ में कुमार कहा गया है, कुमार का अर्थ है बालक। जब कोई बालक कोई गम्भीर प्रश्न कर बैठता है तो समाधान करने वाले को सोचना पड़ता है कि प्रश्न कर्त्ता की योग्यता इतनी है भी या नहीं ? इसी भाव से ग्रंथकार ने यम के मुख से कहलाया है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्म्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ (कठो. १।२१)

'नचिकेतः ! पहले समय में बड़े-बड़े विद्वानों ने इस पर विचार किया है कि यह बात अत्यन्त सूक्ष्म है, सरलता से नहीं समझी समझाई जा सकती, तू दूसरा वर माँग ले, इसे छोड़ दे, इसके लिये मुझे मत दबा, अर्थात् मैं वर देने में वचनबद्ध हूँ किन्तु यह प्रश्न मत पूछ।'

नचिकेता उसको कहते हैं जिसे अपने लक्ष्य में सन्देह न हो अतः दृढ़मति नचिकेता कहता है "महाराज ! आप कह रहे हैं बड़े-बड़े विद्वानों ने इस सम्बन्ध में संशय किया है और आप इसे सुविज्ञेय - सरल भी नहीं मानते, तब यह निश्चय है कि आप इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर जानते हैं। आप से अधिक यथार्थ रूप में इस प्रश्न की मीमांसा कौन कर सकेगा, अतः मुझे यही वर माँगना है, क्योंकि मुझे इसके समान और कोई वर दीखता ही नहीं था।

जब कोई पहले-पहले अध्यात्म मार्ग में चलने की सोचता है तो उसके सामने अनेक प्रलोभन आया करते हैं। कोई वीर पुरुष ही उन प्रलोभनों से बचकर आगे जा पाता है। नचिकेता के आगे भी प्रलोभन आये। उसे चिरजीवी बेटों, पोतों, हाथी घोड़ों, धन-धान्य, राज पाट, लम्बा जीवन, सब इच्छाओं को पूरा करने का सामर्थ्य, मर्त्यलोक में दुर्लभ पदार्थों की प्राप्ति, मनुष्यों को प्राप्त न होने वाली बाजे गाजे करणोपकरणयुक्त सुन्दर स्त्रियों के लेने का प्रलोभन दिया गया और कहा गया, ये सब ले लो किन्तु मरणं मानुप्राक्षी मृत्यु के होने वाली अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न मत कर। नचिकेता अपनी बात का धनी था। उसने जो उत्तर दिया है वह प्रत्येक अध्यात्म तत्त्व जिज्ञासु को स्मरण रखना चाहिये नचिकेता ने विनय भाव से उत्तर दिया—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव

वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसित्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥ अजीर्य्यताममृतानामुपेत्य जीर्य्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्ण रतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥ यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् योऽयं वरो गूढमनु प्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

'महाराज! जितने पदार्थ आप ने मेरे सामने प्रस्तुत किये हैं ये सब आज हैं, कल नहीं [अर्थात् मैं तो नित्य का अभिलाषी हूँ अनित्य का नहीं] और फिर ये सब तो इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करते हैं, नष्ट करते हैं, अर्थात् इनके सेवन का फल रोगादि हैं। आप तो दीर्घ जीवन देते हैं, किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि मनुष्य को अनन्त जीवन भी मिले और आत्मज्ञान न हो, तो वह व्यर्थ है, अतः नाच गान का सामान अपने पास रहने दीजिये मुझे नहीं चाहिये। धन से किसी को तृप्त होते देखा नहीं, धन की तृष्णा समाप्त होने में नहीं आती। यदि मैं मृत्यु का रहस्य जान पाऊँ तो मुझे सब धन मिल जायेगा। जब तक भोग है, तब तक तो जीऊँगा ही, अतः मुझे वर तो वही चाहिये। आप अनन्त जीवन और सब भोग सामग्री प्रदान करते हैं, मैं ही देखता हूँ, कि इस जीवन को पाकर भी आत्मज्ञान के बिना बड़ी दुर्दशा होती है। हर समय राग-रंग, भोग-शोक में ग्रस्त रहना होगा। इस कष्ट-बहुल, ब्रह्मानन्द शून्य अनन्त जीवन को कौन बुद्धिमान् पसंद करे। मुझे तो इस संसार का सार बताइये, जिसमें बड़े बड़े ज्ञानियों को भी सन्देह है। मुझे तो उस तत्त्व के दर्शन कराइए जो हमसे गुप्त हैं। अतः नचिकेता और वर नहीं चाहता।

कितनी दृढ़ता है! इस दृढ़ता से प्रसन्न होकर यम ने समाधान करना आरम्भ किया। सबसे पहिले उसे सांसारिक और आध्यात्मिक = पारमार्थिक मार्गों का भेद बताया। सांसारिक मार्ग को प्रेयो-मार्ग कहते हैं। पारमार्थिक मार्ग का नाम श्रेयो-मार्ग है। मनुष्य के सामने दोनों आते हैं। श्रेयो-मार्ग का ग्रहण करने वाले का भला होता है, किन्तु प्रेयो-मार्ग पर चलने वाला लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। मूर्ख अविवेकी ही 'प्रेय' से प्रीति करते हैं। ज्ञानशील विवेकी तो श्रेय का ही अवलम्बन करते हैं। अविद्या के कारण मनुष्य प्रेयोमार्ग पर चलता है। तत्व ज्ञानी विद्यावान् श्रेयोमार्ग को पकड़ता है। जैसे विद्या और अविद्या एक दूसरे से उलटी हैं, इनका परिणाम भी एक दूसरे से उलटा है, ऐसे ही श्रेय और प्रेय भी एक दूसरे के विपरीत हैं। अज्ञानियों के पीछे चलने से वही दशा है जो अन्धे के पीछे चलने से होती है।

यह साम्परायः=आनी जानी दुनियां का तत्व अज्ञानी, प्रमादी तथा धनमद से उन्मत्त मनुष्य को ज्ञात नहीं हो पाता, उनका मन्तव्य है : बस यही प्रथम और अन्तिम शरीर। न इससे पूर्व कोई शरीर था और न बाद में होगा। ऐसे लोग जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। यह ऐसा तत्व है जिसको सुनने वाले ही थोड़े हैं, सुनने वालों में भी बहुत थोड़े इसे समझते हैं। क्योंकि इसको बता सकने वाले दुर्लभ होते हैं। साधारण मनुष्य तो इसे समझ ही नहीं सकता। नचिकेतः इस तत्व का जब साक्षात्कार हो जाता है तब कोई भी तर्क, कोई भी युक्ति इस तत्व से बुद्धि को विचलित नहीं कर सकती। हे नचिकेतः! मैं उस कल्याण-निधान को जानता हूँ। अनित्य पदार्थों का मोह त्याग कर मैं उस परम नित्य तत्व को जान चुका हूँ। उसके दर्शन होने पर शोक मोह छूट जाते हैं।

यम के इस प्रवचन से ज्ञात होता है कि यम ने सबसे पूर्व इस संसार की व्याख्या और रचना को मन में रख कर इसके बनाने वाले का ज्ञान देना उचित समझा है तभी तो उसने इसी स्थान में आगे कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओम् इत्येतत् ॥२।१५॥

सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सभी तप मानों इस पद का व्याख्यान हैं। इस पद की कामना से साधक ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करते हैं। हे नचिकेता! संक्षेप से कहता हूँ वह पद 'ओम्' है।

यह 'ओम्' साधकों का सबसे बड़ा सहारा है। ओम् पद की महिमा बताने के बाद १८वें १९ श्लोकों में इस ओम् पद-वाच्य परब्रह्म को अजर-अमर, सर्वज्ञ, अकारण (जिसका कोई कारण नहीं है और जो स्वयं किसी का उपादान कारण न हो) सनातन, पुरातन, बताया है। संसार में वह व्यापक है, संसारी पदार्थों के विकृत होने पर भी वह विकृत नहीं होता।

प्रश्न होता है, नचिकेता के प्रश्नानुसार तो सबसे प्रथम आत्म स्वरूप का निरूपण होना चाहिये। यहाँ पहिले परमात्मतत्व का वर्णन क्यों किया है? इसका समाधान यह है कि कठोपनिषत् योग की पुस्तक है। योग में चित्त वृत्ति निरोध का एक उपाय 'ईश्वर प्रणिधान' को अटल श्रद्धायुक्त भक्ति बताया गया है। उस ईश्वर प्रणिधान, विशेषतः प्रणव - (ओ३म्) जप का फल आत्मदर्शन भी बताया गया है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमो प्यन्तरायाभावश्च।
[यो० सा० २९]

ओम्—जप से प्रत्यक् चेतन=आत्मा की प्राप्ति तथा योगमार्ग के विघ्नों का नाश होता है।

इसी बात को १।२० में यहाँ भी कहा गया है। यथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

वह परमात्मा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तथा महान्-से-महान् है, वह परमात्मा इस प्राणी की हृदय गुफा में छिपा है। निष्काम, वीतराग मनुष्य ही प्रभु की कृपा से उसकी तथा आत्मा की महिमा का साक्षात्कार कर पाता है।

उपनिषत् का 'तम .....मात्मनः' और योगदर्शन का 'ततः......प्रभावश्च' एक ही बात को कहते हैं।

ईशोपनिषत् के 'तदेजति .....' मन्त्र को '*आसीनोदूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः*' शब्दों में कह कर, उसकी सर्वव्यापकता का पुनः कथन कर उसके ज्ञान से शोक, मोह का अभाव बताकर बताया है कि यह सर्वव्यापक होता हुआ भी क्यों नहीं मिलता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥२।२२॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२।२३

यह परमात्मा व्याख्यान करने से नहीं मिलता, न बुद्धि से और न बहुत पढ़ने से, जिसको वह चुन लेता है, वह पा लेता है, उसको यह अपना विस्तार जता देता है। जो दुराचार से नहीं हटा, न सावधान हुआ है। जिसमें शान्ति नहीं है, मन जिसका चंचल है, यह प्रज्ञान के द्वारा इसे नहीं पा सकता।

जो दुराचार, दुर्विचार, दुरुचार, दुर्व्यवहार छोड़ कर, मन की चंचलता हटा कर चित्त को शान्त और समाहित करेगा, वह प्रभु प्रसाद का अधिकारी बनेगा, उसे ही प्रभु चुनेंगे। भगवान् को पाने के लिये व्याख्यान करना, बहुत पढ़ना आदि पर्याप्त नहीं है।

तीसरी वल्ली का आरम्भ जीव और ब्रह्म के स्पष्ट भेद से वर्णन किया गया है। इसमें ब्रह्म को आतप=धूप=प्रचण्ड प्रकाश कहा गया है। अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार का कोई अज्ञान नहीं है। जीव को छाया कहा है, अर्थात् जीव में

प्रकाश=ज्ञान तो है, किन्तु अन्धकार मिश्रित=अज्ञान सहकृत है। दूसरे शब्दों में जीव अल्पज्ञ है।

इस तीसरी वल्ली में आत्मा, शरीर और इन्द्रियों का भेद और इनका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है। रूपकालङ्कार से शरीर को रथ आत्मा को रथ का स्वामी, इन्द्रियों को रथ के घोड़े, मन को लगाम तथा बुद्धि को कोचवान् बताया गया है। तात्पर्य यह कि शरीर तो भोगने का ठिकाना है और इन्द्रियाँ भोगने का साधन हैं, मन से यदि निग्रह न करें तो इन्द्रियाँ वश से बाहर हो जाएं, बुद्धि इस मन को वश में रखती है। संसार के पदार्थ भोगने के लिये हैं। इन्द्रियों और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं क्योंकि इन साधनों के बिना आत्मा भोग नहीं कर सकता। सार यह कि बुद्धि द्वारा मन और इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखना चाहिए। बुद्धि को कभी भी प्रमादी नहीं होने देना चाहिये। जैसे कोचवान की असावधानता या प्रमाद से घोड़े अपने घास की ओर दौड़ते हैं, उससे घोड़े स्वयं भी घायल होते हैं। घोड़ों के घायल होने से हानि तो घोड़ों के स्वामी की ही होती है, ऐसे ही इन्द्रियों की क्षति से आत्मा के भोगकार्य में बाधा पड़ती है।

अन्त में उपदेश किया—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।३।१४

उठो, जागो, पहुँच कर वरों को जानो। यह मार्ग तीक्ष्ण छुरे की धार है। बहुत कठिन दुर्गम है। ऐसा ज्ञानियों का कथन है।

मौत के मुँह से छूटना चाहते हो तो आत्मा को जानो। यथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥३।१५॥

वह आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है, इन गुणों के विकारों से वह विकृत नहीं होता। वह अनादि है, अनन्त है, ध्रुव है, उसे जानकर मनुष्य मृत्यु मुख से बच जाता है।

प्रश्न होता है, इन्द्रियाँ आत्मा के करण=ज्ञान के साधन हैं इनसे आत्मा का ज्ञान क्यों नहीं होता। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये चौथी वल्ली प्रवृत्त हुई है। वहाँ आरम्भ में ही कहा है कि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥४।१॥

'विधाता ने यह इन्द्रियां बहिर्मुख बनाई हैं, अतः आत्मा इनके द्वारा बाहर ही देखता है, आत्मा के भीतर नहीं। कोई धीर मनुष्य ही आँख, नाक, आदि मून्द कर ही आत्मा को देख पाता है।

अर्थात् आत्मदर्शन के लिये धैर्य चाहिये। जो चंचल है, स्थिरमति नहीं, है, उसके लिये आत्मदर्शन असम्भव है।

जिन मूर्खों को आत्मदर्शन नहीं हुए वे ही भोगों में फँसते हैं जैसा कि कहा है—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥४।२॥

अज्ञानी जन ही बाह्य विषयों की कामना करते हैं। अतः वे मृत्यु के विस्तृत जाल में फँसते हैं। धैर्यशाली अमृत का रहस्य जान कर इन विनश्वर पदार्थों के द्वारा उस अविनाशी को नहीं चाहते।

विषयों से तृप्ति कभी नहीं होती, उनकी कामना बार-बार सताती है, उससे विषय वासना बलवती होती है। उसकी बलवत्ता जन्ममरण के प्रवाह में डालती है, क्योंकि शरीर के बिना तो भोग मिल नहीं सकता। अतः पुनः-पुनः मरना पड़ता है।

आगे समझाया है कि आंख नहीं देखती, देखता तो आत्मा है, इस प्रकार कान आदि की बात समझनी चाहिये, अतः सार पदार्थ परमात्मा है। जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति का द्रष्टा आत्मा ही है। यही जीवात्मा फल भोक्ता है, अर्थात् कर्म का परिणाम इसे ही मिलता है। यही अपने भविष्य का स्वामी है। भूतकाल में किये कर्मों का भोक्ता होने के कारण आत्मा ही भूत का भी स्वामी है। शरीर और इन्द्रियाँ तो क्षणिक हैं, क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं। जब तक कोई स्थिर तत्त्व इनसे भिन्न न माना जाये, कर्मफल व्यवस्था बन नहीं सकती। जब सृष्टि नहीं थी, तब भी यह आत्मा था। प्राण इस आत्मा की सत्ता का प्रमाण देते हैं। यह अखण्ड आत्मतत्त्व हृदयाकाश में छिपा रहता है। इसके आगे अपनी बात को, मानो, प्रमाणित करने के लिये वेद का एक मन्त्र प्रस्तुत किया है, वह मन्त्र ये है—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥४८॥

दो अरणियों में जैसे अग्नि छिपा है, गर्भिणी में जैसे गर्भ छिपा है, इसी भाँति यह आत्मा-अग्नि मनुष्य के हृदयाकाश में छिपा है। तत्वज्ञानी, सावधान, जागरूक, श्रद्धाभक्ति सम्पन्न मनुष्य उस आत्माग्नि की परिचर्या करते हैं।

इस प्रकार नाना उपायों से आत्ममहिमा गाकर अन्त में कहा—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यँस्तानेवानु विधावति ॥४।१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥४ १५॥

जैसे पहाड़ों पर, विषमस्थलों पर बरसा हुआ जल इधर उधर ही भागता है, ऐसे इन धर्मों को, गुणों को—गुणी से पृथक् मानने वाला मनुष्य गुणों के पीछे ही दौड़ता है। किन्तु शुद्ध जल यदि शुद्ध पात्र में डाला जाये, तो वह वैसा ही होता है, ऐसे ही ज्ञानी मुनि का आत्मा होता है।

अर्थात् इन्द्रियों के विषय विषम हैं, जो उनकी कामना करता है, उनके पीछे ही लगा रहता है। इसके विपरीत आत्मज्ञानी ब्रह्म में लीन होकर परमानन्द का भागी बनता है।

इसके आगे पांचवीं वल्ली में आत्मा का स्वरूप तथा उसका नाना शरीरों में कर्मों के अनुसार आना वर्णन करते हुए कहा है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५।५॥

कोई भी प्राणी न प्राण के द्वारा जीता है और न अपान के द्वारा, वरन् किसी अन्य के द्वारा, जिसमें ये दोनों आश्रित हैं।

दूसरे शब्दों में आत्मा प्राण का भी प्राण है।

इतनी लम्बी भूमिका के पश्चात् यम सीधे शब्दों में उसके प्रश्न का समाधान करते हैं—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥५ ६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥५।७॥

अहो नचिकेता! मैं तुझे वह सनातन गुप्त ज्ञान बतलाता हूँ, अर्थात् मरने के बाद आत्मा की जो दशा होती है। कई जीव शरीर धारण करने के लिये नाना योनियों में जाते हैं। कई

स्थावरों को प्राप्त होते हैं। जैसा जिसका कर्म और ज्ञान होता है, वैसा फल मिलता है।

परमात्मा, आत्मा का स्वरूप, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध बताकर पुनर्जन्म को निश्चय किया जा सकता था। इतना ज्ञान नचिकेता को करा दिया गया है, अतः यम ने उसे बतलाया, कि भाई आत्मा मरने के बाद अपने ज्ञान-कर्म अर्थात् वासनाओं के अनुसार दूसरे शरीरों में जाता है। अर्थात् शरीर आदि के साथ सम्बन्ध का नाम जन्म है। शरीरादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध बार-बार होता रहता है। अर्थात् मरने के बाद भी आत्मा बना रहता है।

इसके बाद इस वल्ली में प्रसंग से पुनः परमात्मा का वर्णन है। अग्नि, वायु, सूर्य की उपमा से वर्णन करते हुए उसे सबके भीतर तथा बाहर रहने वाला बतला कर कहा है कि यद्यपि वह सर्वव्यापक है, तथापि सांसारिक दोषों से वह दूषित नहीं होता। वह अकेला होता हुआ भी सबका अन्तरात्मा होने के कारण एक प्रकृति से अनेक रूपों की रचना करता है। वह आत्मा के अन्दर रहता है, उसे बाहर देखने की आवश्यकता नहीं, उसे अपने आत्मा के भीतर देखने वालों को ही शाश्वत सुख मिलता है। प्रकृति नित्य है किन्तु उसमें धर्म, लक्षण, अवस्था नामक परिणाम होते हैं, जीव को यथाकर्म, यथाश्रुत भली बुरी योनियों में जाना पड़ता है किन्तु परमात्मा अविकारी है, वह नित्यों में नित्य है। चेतन जीवात्माओं को सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान देता है, अतः बुरे कामों से हटने की प्रेरणा करता रहता है, अतः वह चेतनों का चेतन है। उसके दर्शन अपने आत्मा में करने चाहिये।

नचिकेता कहता है—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥१।१४

आप जैसे महात्मा उस अनिर्देश्य परमान्द ब्रह्म को हाथ में पड़े पदार्थ की भांति प्रत्यक्ष जानते हैं। उसे मैं कैसे जानूँ? वहाँ क्या कुछ प्रकाश करता है?

यम कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा
विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति
सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥५।१६॥

वहाँ सूर्य नहीं चमकता, न तारे, न बिजलियाँ चमकती हैं। इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाश के अनुकूल ही सब प्रकाशित होते हैं। वह अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित कर रहा है।

अर्थात् सूर्य चन्द्र सबमें उसी की ज्योति है, वही प्रकाशकों का प्रकाशक है। इस प्रकार तुम उसे समझ सकते हो।

इसके बाद इसके रचयिता प्रभु का संकेत कर सबको उसका शासनानुवर्ती बतला कर कहा—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
सतः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥६।४॥

इसी जन्म में शरीर नाश से पूर्व यदि रहस्य को जान सका, तो सर्गारम्भ में शरीर धारण करेगा, अर्थात् मुक्त होगा।

तलवकार ऋषि ने कहा—*इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति*, कठ ऋषि ने यम के मुख से कहलवाया—'*इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः*' शब्द भेद तो है, किन्तु अर्थ वही है। सौ सयाने एको मत।

इसके बाद इन्द्रियों की पृथक्ता, इन्द्रियों से मन की उत्कृष्टता का वर्णन करके अनन्तर परमात्मा को सबसे उत्तम कहा और साथ ही यह भी कहा कि न उसका कोई रूप है और न कोई चक्षु के द्वारा उसे देख सकता है, वह तो मनन की वस्तु है।

इसके बाद उस सर्वोत्तम परमात्मा तथा आत्मा के दर्शन के साधन योग का संक्षिप्त किन्तु सार-गर्भित वर्णन किया है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् ॥६।१०॥
तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥६।११॥

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन स्थिर हो जाते हैं, अपना कार्य बन्द कर देते हैं, बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है, उस अवस्था को परम गति कहते हैं। इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को योग कहते हैं। उस समय साधक सावधान= प्रमाद-रहित होता है। विषय वासना का नाश तथा ब्रह्मानन्द प्राप्ति ही योग है।

थोड़े से शब्दों में कितना सुन्दर वर्णन है। इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपने आधीन करने का नाम योग है।

परमात्मा की सत्ता आत्मानुभव गम्य ह। आँख, नाकादि के द्वारा उसका बोध नहीं किया कराया जा सकता।

परमात्मप्राप्ति का प्रमाण लिखते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥६।१४॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ।.६।१५॥

जब हृदय की सब कामनायें छूट जाएँ, उसकी वासना तक न रहे, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है काम, क्रोध, लोभ, मोहादि हृदय की गाँठें जब खुल जाती हैं तभी मनुष्य को मुक्ति मिलती है। इतना उपदेश है अर्थात् ब्रह्मविद्या का सार इतना ही है कि मनुष्य वासनाओं से छुट्टी पा जाये। योगादि सब इसीके लिये किये जाते हैं। वेदादि शास्त्रों का प्रयोजन भी यही है।

योग साधन से प्राणों पर अधिकार हो जाता है। अतः योगी मरते समय सुषुम्ना के द्वारा प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकालता है। इसीसे वह मुक्त होता है।

समाप्त करते हुए कहा—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥५। ७॥

ज्ञानगम्य अन्तरात्मा सदा मनुष्यों के हृदय में छिपा है। जैसे मूंज से यत्नपूर्वक सींक को निकालते हैं, ऐसे यत्नपूर्वक अपने शरीर से आत्मा को निकालो।

अर्थात् जैसे मूंज और सींक भिन्न-भिन्न हैं, ऐसे ही शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। उनको एक समझना अज्ञान है।

नचिकेता का इस ज्ञान से कल्याण हुआ था। हम सबका भी इस ज्ञान से एतदनुकूल अनुष्ठान से कल्याण हो, यह उस कल्याण निधान से कामना है।

इति श्रीमद्वेदानन्द तीर्थापराभिधानेन दयानन्द तीर्थस्वामिनो-
द्धृतः कठोपनिषत्सारः समर्पितः

॥ ओशम् ॥



Ratnakar Press, Calcutta-7.